विषय-सूची

प्रस्तावना

रचना के काल क्रम में सहकार समस्त सृष्टि का पूर्वगामी, उसका आधार और सृजक है। शास्त्रों के अनुसार पुरुष और प्रकृति का सहकार सृष्टि के मूल में है अतः सहकार न केवल संस्कृति का बल्कि 'अस्ति' या अस्तित्व का मूल तत्व है।

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—

'देवात्भाव यताने न ते देवा भाव यन्तुयः
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम वाप्स्यथ'।

गीता अ. 3 श्लोक 11

'इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं की उन्नति करो और देवता तुम्हारा उन्नति करे इस प्रकार आपस में उन्नति करते हुए परम श्रेय को प्राप्त होओ'।

यहां देवता से अभिप्रायः किसी अन्य लोक के निवासी प्राणियों से नहीं, आपकी अपेक्षा अधिक साधन-सम्पन्न समाज-बन्धुओं से है। समाज के ये दोनों वर्ग आपस में मिलकर एक दूसरे के हित के लिए कार्य करें, सहकार का यह मूल मन्त्र है।

हमारे ग्राम समाज में सहकार के विभिन्न रूप चिर-काल से प्रचलित हैं यद्यपि तेजी से बढ़ती हुई शहरी और व्यष्टि-प्रधान संस्कृति ने इस परम्परागत सहकार को विकृत और नष्ट कर दिया है।

ईसा की 19 वीं सदी के अन्त और बीसवीं के प्रारम्भ में कानूनी सह-कारिता का प्रारम्भ हुआ। बड़ी आशा और विश्वास के साथ इस कानूनी सहकारिता का प्रारम्भ किया गया परन्तु इसके प्रारम्भ के साथ और कभी-कभी तो इसके परिणामस्वरूप भी कुछ असहकारी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इन प्रवृत्तियों के कारण परम्परागत सहकारिता तो नष्ट हुई ही, कानूनी सहकारिता भी वास्तविक अर्थों में जड़ नहीं पकड़ सकी।

कानूनी सहकारिता के प्रसार के इस अप्रत्याशित परिणाम ने अर्थशास्त्र के विद्वानों और समाज शास्त्रियों को इस बात के लिए विवश किया कि उन

तत्वों का जिनसे निराशा की यह स्थिति पैदा हुई, गहराई के साथ अध्ययन किया जाय। डा. अवधप्रसाद का यह अध्ययन भी इस जिज्ञासा से प्रसूत है। इसमें लेखक ने राजस्थान के जयपुर, अलवर, भरतपुर और धौलपुर जिलों में सहकारिता के परम्परागत और कानूनी स्वरूप का शोधपरक दृष्टि से अध्ययन किया है, इस अध्ययन से कुछ निष्कर्ष निकाले हैं और इस सर्वेक्षण से संचित अनुभवों के आधार पर भविष्य के लिए कई सार्थक संकेत दिए हैं।

इन गांवों में प्रचलित परम्परागत सहकार मोटे तौर से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक सहकार तो ऐसा था जो मुख्यत: विशिष्ट जात-बिरादरी अथवा एक ही पेशा करने वाले वर्गों तक सीमित था, दूसरा वह कि जो जाति-पांति के भेद के बिना समस्त ग्राम समाज तक व्याप्त था। पहले वर्ग में धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर किया हुआ सहकार आता है और दूसरे वर्ग में कृषि, उद्योग और ग्राम-समाज के सार्वजनिक हितों की साधना के लिए किया हुआ सहकार। जाति-भोज में भोजन बनाने, बड़ी पापड़, आटा, बेसन, मैदा तैयार करने और कन्याओं के विवाह में नगदी के रूप में उपहार देने का रिवाज ज्यादातर जातिबद्ध था जबकि खेतों में हल चलाने, सिंचाई करने, कुंआ खोदने, गांव की गडारों (गड-राहों) के ठीक करने का काम ऐसा था कि जिसमें जाति भेद की सीमाएं बाधक नहीं होती थीं।

अध्ययन से विदित हुआ है कि जिन गांवों के हालात का सर्वेक्षण हुआ है उनमें परम्परागत रूप से उक्त दोनों वर्गों के सहकार प्रचलित थे। शादी-ब्याह के समय खाद्य **सामग्री का संस्कार,** भोजन पकाने में सहाता, बारात की खातिर तवाजों में सहायता, अंतिम संस्कारों में सहयोग आदि प्रथम वर्ग के और ल्हास, चौथ या लांगड़ी, सांपा, पेय-जल की सामूहिक व्यवस्था आदि दूसरे वर्ग के सहयोग के उदाहरण हैं।

जिस तरह औद्योगिक क्रांति के साथ यूरोपीय देशों में आर्थिक-संतुलन में व्यापक हेर-फेर हुए उसी तरह के हेर-फेर उससे कुछ बाद हमारे देश में भी हुए। इन परिवर्तनों ने सामाजिक जीवन के शहरी और ग्रामीण दोनों पक्षों को प्रभावित किया और पारिवारिक और सामाजिक व्यवहार के मानदण्ड तेजी के साथ बदलने लगे। पूंजी के धनी कुछ लोग और श्रम करने वाले बहुसंख्यक लोग समाज में पहले भी थे और एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण भी होता था, पर पहले परम्परागत अर्थ-व्यवस्था में पूंजी-दार और मजदूर-काश्तकार के बीच इतना भेद पहले नहीं था और शोषण के अवसर भी बहुत थोड़े थे। औद्योगिक क्रांति और इसके कारण सघन होते हुए शहरीकरण के फलस्वरूप न केवल मालिक-मजदूर के सम्बन्धों में बल्कि संयुक्त परिवार जैसी परम्परागत

सामाजिक व्यवस्थाओं में भी बड़ा परिवर्तन आया। सहकार-सम्पन्न ग्रामीण और पारिवारिक जीवन की व्यवस्थाएं कमजोर हुईं और व्यक्तिवाद का प्रसार हुआ। यह परिवर्तन क्यों कर हुआ इसका अध्ययन तो फलप्रद है परन्तु इस परिवर्तन पर रोक लगाना निरर्थक चेष्ठा ही है। मानव संस्कृति के इतिहास से स्पष्ट है कि जीवन पद्धति में ऐसे परिवर्तन बराबर आते रहे हैं। आदिम युग की जो जीवन पद्धति थी वह बदलनी ही थी और बदली-सतयुग से त्रेता, त्रेता से द्वापर और द्वापर से कलियुग इसी परिवर्तन का इतिहास है।

परिवर्तन तो अवश्यसंभावी है, उसे टाला नहीं जा सकता. टालने की चेष्टा भी गलत है, पर परिवर्तन को नियमित, व्यवस्थित और नियंत्रित किया जा सकता है--पिछले अनुभवों के आधार पर नये मार्ग निकाले जा सकते हैं— नदी की बाढ़ आकस्मिक रूप से आकर हमें डुबो न दे इससे पहले बाढ़ के पानी को बांधने के उपाय किये जा सकते हैं, बाढ़ का पानी बांध को न तोड़ दे इसके लिए भी जलाधिक्य निकास के लिए जल-द्वार बनाए जा सकते हैं।

उपरोक्त रूपक को यदि समाज व्यवस्था और उसके आधारभूत 'सहकार' पर लगाएं तो स्पष्ट है कि इस अर्थ प्रधान अथवा मुद्रा-स्नेही युग में परम्परागत सहकार का स्वरूप तो बदलना ही था। किया केवल यह जा सकता था कि कानून के जरिए जिस 'सहकारिता' को लाया गया उसका ऐसा स्वरूप होता कि परम्परागत संस्कृति के मूल तत्व भी उसमें सुरक्षित रहते और नवयुग की मांग भी उसमें पूरी होती।

ऐसा हुआ नहीं। कानून के जरिये जिस सहकार को हम लाए, वह विदेशी जमीन से उखाड़ कर लाया हुआ पौधा था। उसकी कलम पुराने पौधे पर नहीं लगाई गई, जड़-विहीन पौधे को अलग अलग ही रोपा गया। विदेशों में वह कैसा फला-फूला है उसके गीत गाए गए और पौधे को सिंचाई की खूराक पूरी दी गई फिर भी नतीजा यह रहा कि जहां इस नमी से पौधा फलता-फलता था, उसी नमी से पौधा गल गया—

'इस घर को आग लग गई घर के चिराग से'

सहकारिता के हितैसियों को फिक्र यही पैदा हुई है—क्या कारण है कि पौधे को इतना पानी पिला रहे हैं, खाद्य दे रहे हैं पर वह बढ़ने के बजाय गल रहा है। प्रस्तुत सर्वेक्षण से इसका उत्तर मिलता है और वह यह कि पौधा जड़-विहीन है–पुराने पौधे पर उसकी कलम भी नहीं लगाई गई है।

जैसे व्यक्तिगत जीवन में, वैसे ही सामाजिक जीवन में भी तरह-तरह के प्रयोग किए जाते हैं उनमें से कुछ सफल होते हैं कुछ अर्ध-सफल या असफल।

इससे घबराने की जरूरत नहीं है--
"लगाते हैं गोता उछलने की खातिर
वो गिरते हैं, उठकर के चलने की खातिर ॥"
प्रस्तुत सर्वेक्षण की यही प्रक्रिया और यही इसकी सार वस्तु है।

इस अध्ययन से यह भी विदित होता है कि भारत के गांवों में पाई जाने वाली परम्परागत सहकारिता, ग्राम समाज के नित्य-जीवन से स्वाभाविक रूप में प्रस्फुटित हुई है, किसी परदेशी 'वाद' या आर्थिक सिद्धान्त के रूप में नहीं। इसके मुकाबले में पश्चिम में पैदा होने वाली कानूनी सहकारिता वहां के बढ़ते हुये औद्योगीकरण और थोड़े से व्यक्तियों में सीमित पूंजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई है। साम्यवाद भी पूंजीवाद की ही प्रतिक्रिया है मगर उग्र और अत्यन्तिक प्रकार की। कानूनी सहकारिता मानव-चिंतन का ऐसा प्रयास है कि जिसमें पूंजीवाद का शोषण तत्व निकल जाय और उद्योग का लाभ का नवनीत पूंजी लगाने वाले को ही न मिल कर उत्पादन श्रमिकों में वितरित हो जाय।

इसलिए लोकतन्त्र के परिपेक्ष्य में कानूनी सहकारिता को नकारना तो सम्भव नहीं है, न आवश्यक ही। जरूरत केवल इस बात की है कि जो परम्परागत सहकारिता जातिवाद पर आश्रित हो गई थी वह उस बंधन से छूटकर श्रम-उद्योग आश्रित संगठन के रूप में प्रकट हो और उसमें सहकार कानूनी मजबूरी के रूप में नहीं, नैतिक कर्त्तव्य के रूप में धारित किया जाय। इस प्रकार की नैतिकता के उन्मेष के मार्ग में कौन सी बाधाएं हैं, उनका विवेचन इस सर्वेक्षण में ग्राम समाज के वास्तविक क्षेत्र-सर्वेक्षण के आधार पर किया गया है और इससे यह नतीजा आया है कि सहकारिता की नैतिकता के दूषित करने वाले निम्नलिखित तत्व हैं :--

(1) सहकार--आन्दोलन का राजनीतिकरण, अर्थात् राजनीतिक-शक्ति के भूखे लोगों द्वारा सहकारी आन्दोलन में घुस-पैठ और उसके जरिये निजी और दलगत स्वार्थों को साधने का प्रयास।

(2) नौकरशाही द्वारा जरूरत से अधिक हस्तक्षेप-सहकारी समितियों पर वर्षों तक प्रशासक बिठाने और सदस्यों की रुचि और सहयोग को समाप्त कर देना।

(3) कुशलता का अभाव--उलझे हुये कानूनों के कठहरों के बीच कारोबार को विधिवद्ध रूप से चला सकने की क्षमता न होना।

(4) लोकतांत्रिक मूल्यों का अभाव--अधिकतर सोसाइटियों में कुछ स्वार्थी लोग व्यवस्था पर कब्जा जमाये बैठे हैं और पदाधिकारियों के चयन की प्रक्रिया को बल प्रयोग से दूषित करते है।

(5) वैचारिक अन्तराल--सहकारी सोसाइटी बनाने से पहले सिद्धांत सम्बन्धी पर्याप्त प्रचार और सम रुचि के सदस्यों के चयन पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता।

(6) *आर्थिक व्यवहार में अशुद्धि और कदाचार*--सदस्यों में से पढ़े लिखे और चतुर लोग अनपढ और भोले सदस्यों के नाम पर ऋण मंजूर कराकर खुद हड़प जाते हैं और ऐसे भोले सदस्यों को झगड़े में डालते हैं। ऐसे वाहैसियत लोग अपने हिस्से के कर्ज को समय पर अदा नहीं करते और सोसाइटी के नाम अधिक बकाया रह जाने पर किस्तें अदा करने वाले लोगों को भी कर्ज नहीं मिलता है।

(7) निर्धारित लक्ष्यों के आँकड़े पूरे करने की धुन में कच्ची सहकारी समितियां बनाया जाना।

प्रस्तुत सर्वेक्षणकार डा. अवधप्रसाद ने सर्वेक्षणाधीन गांवों में सब प्रकार के लोगों से पूछताछ कर ये नतीजे निकाले हैं। इनमें से बहुत से नतीजे आन्दोलन के कर्णधारों को ज्ञात भी है, पर अन्तर्विष्ट निहित स्वार्थ इतने शक्तिशाली हैं कि इन बुराइयों के इलाज का कोई सही प्रयत्न नहीं होता। सोसाइटियों पर सरकारी जब्ती बिठा देने की रोग की एक मात्र औषधि मान कर सब रोगों की चिकित्सा का प्रयत्न किया जाता है।

सबसे बड़ी कमी जो इस सर्वेक्षण में उभर कर आई है, यह है कि सहकार शिक्षा (Cooperative Education) का घोर अभाव है--ऐसी शिक्षा के लिये जो व्यवस्था की गई हैं वह अपर्याप्त तो है ही पर जितनी कुछ है वह भी निहित स्वार्थो की पकड़ में आकार कुछ लोगों को रोजगार देने का साधन मात्र बन गई है।

इन सब कमियों और दुष्प्रवृत्तियों का क्या इलाज होना चाहिये इस पर सर्वेक्षणकार ने अधिक प्रकाश नहीं डाला है। वास्तव में यह उनके सर्वेक्षण का विषय भी नहीं था--उन्होंने ग्राम में सहकार की नब्ज देखकर रोग के लक्षणों का व्यापक और गहन निदान किया है--अब इस क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों और चिन्तकों का यह काम है कि इन रोगों की चिकित्सा की व्यवस्था करें। रोगी को स्वस्थ करने की प्रक्रिया में पहले रोग की जड़ काटी जाती है और फिर टॉनिक दिए जाते हैं। रोगी शरीर में तो पुष्टि कर पदार्थ रोग को और बढ़ा देते हैं।

सर्वेक्षण अच्छा बन पड़ा है। डा. अवधप्रसाद की ग्राम्य जीवन से उद्भुत होने वाली पृष्ठभूमि ने उनको पैनी दृष्टि भी दी है और ग्रामवासियों से उनके मन की बात निकलवा सकने वाली सम्वेदना भी। इस सर्वेक्षण से उनकी

परिपक्व समझ, गहरी सूझ और सहकारिता के प्रति समर्पण भावना लक्षित होती है।

बहुत अच्छा होगा कि डा. अवधप्रसाद अपनी किसी अगली कृति में उन घटनाओं और प्रसंगों को भी लेखबद्ध करें जो परम्परागत सहकार और कानूनी सहकार के वास्तविक व्यवहार के रूप में उनकी जानकारी में आई हो। ऐसे प्रसंग प्रेरक भी होंगे और उपयोगी भी।

उन्होंने अपने अध्ययन की भूमिका लिखने को मुझसे कह कर सहकारिता के विषय में अपने चिंतन को मुखर करने का जो अवसर मुझे प्रदान किया है उसके लिए मैं कृतज्ञ हूं।

बापू नगर, जयपुर
दिनांक 16.10.85

विष्णु दत्त शर्मा

दो शब्द

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सारी संस्कृति और सभ्यता का विकास मानव समूह के मिलकर सोचने, एक-दूसरे का विचार सुनने तथा मिलजुलकर काम करने से ही हुआ है। इस सहकारिता के स्वरूप और पद्धतियां देश, काल और परिस्थितियों की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न रही हैं और प्रत्येक मानव-समूह में इन पद्धतियों का विकास तथा विस्तार राज्य सत्ता के दखल के बिना स्वमेव हुआ और जनता की नैतिक और सामाजिक स्वीकृति ही इसका बल रहा। भारत में और राजस्थान के जन-जीवन में भी परम्परागत सहकार की ये पद्धतियां उन्नीसवीं शताब्दी तक बराबर चलती रहीं। उन्नीसवीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी और बाद में ब्रिटिश साम्राज्य की सरकार ने कानून बनाकर यहां सहकारिता का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। इस प्रकार भारत में और राजस्थान में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में दो प्रकार की सहकारिता चली, जिन्हें परम्परागत सहकारिता और कानूनी सहकारिता कहा जा सकता है। धीरे-धीरे परम्परागत सहकारिता का ह्रास होता गया और वह भूतकाल की स्मृति मात्र बनने की स्थिति में आ गई और कानूनी सहकारिता भी भारत और राजस्थान की स्वाधीन सरकारों के कानूनों, आर्थिक सहायता तथा सरकारी विभागों के प्रयत्नों के बावजूद असफलता के कगार पर आकर खड़ी हो गई। इस प्रकार दोनों प्रकार की सहकारिता पर एक बड़ा प्रश्न चिन्ह लग गया है।

इस परिस्थिति में कुमारप्पा ग्राम स्वराज्य संस्थान के मण्डल की बैठक में डा. विजयशंकर व्यास ने, जो अहमदाबाद के इन्स्टीट्यूट आफ मैनेजमेंट के निदेशक तथा सहकारिता के विशेषज्ञ भी हैं, यह सुझाव रखा कि परम्परागत और कानूनी सहकारिताओं का तुलनात्मक और व्यावहारिक अध्ययन राजस्थान की ग्रामीण परिस्थिति में किया जाय तो इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया गया। इस पर अध्ययन प्रस्ताव तैयार करके कुछ मित्रों, प्रो. रणजीत गुप्ता, प्रो. मौलिक आदि से विचार-विमर्श के पश्चात् भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् के पास भेज दिया गया। परिषद् से स्वीकृति आने बाद इस पर कार्यारंभ कर दिया गया।

अध्ययन में पूर्वी राजस्थान के जयपुर, अलवर, भरतपुर और धौलपुर जिलों के छोटे-बड़े 7 गाँवों को शामिल किया गया है। इन गांवों में परम्परागत सहकारिता बहुत कम रह गई है, ज्यादातर पुरानी याद ही बाकी है और कानूनी सहकारिता की दृष्टि से कुल 16 सहकारी समितियों में 5 ही जीवित हैं। 11 बिल्कुल बन्द पड़ी हैं। इसलिये इन जिलों में बुजुर्ग लोगों से विशेष बातचीत करके परम्परागत सहकारिता के स्वरूप, कार्य-पद्धति और प्रभाव को समझने का प्रयत्न किया तथा कानूनी सहकारिता से जुड़े हुये अवकाश प्राप्त अधिकारियों तथा सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से भी बातचीत की गई। इस विचार-विमर्श में निम्नलिखित बन्धुओं का सहयोग बहुत मूल्यवान रहा :—

1. मास्टर आदित्येन्द्र
2. श्री युगल किशोर चतुर्वेदी
3. श्री निरंजन सिंह
4. श्री विष्णुदत्त शर्मा
5. प्रो. एस. एन. ध्यानी
6. श्री एस. एन. टंडन
7. श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल

सर्वेक्षित गाँवों के ग्राम नेताओं, बुजुर्ग किसानों, सहकारी समितियों के अधिकारियों आदि सभी लोगों ने इस कार्य में हार्दिक सहयोग दिया। इसके लिये हम सबके आभारी हैं।

यह अध्ययन ग्रामीण सहकारिता की परिस्थिति का दिशा-दर्शन मात्र है। हमारा मानना है कि अब समय आ गया है कि पूरे सहकारी आन्दोलनों का परम्परागत और कानूनी दोनों का गहराई से मूल्यांकन किया जाय और इस देश तथा जनता की प्रकृति और परिस्थिति के अनुकूल सहकारिता आन्दोलन की नई रचना तथा संगठन किया जाय, ताकि सामाजिक और आर्थिक दोनों क्षेत्रों में सहकारिता मजबूत नींव पर पनप सके और बढ़ सके। इसमें इस अध्ययन से कुछ सहायता मिलेगी ऐसी हमारी आशा है।

5 नवम्बर 1985

जवाहिरलाल जैन
मन्त्री-निदेशक

1

पृष्ठभूमि, उद्देश्य एवं अध्ययन पद्धति

पृष्ठभूमि :

1. मनुष्य पारस्परिक सहयोग और सहायता से जीता और उन्नति करता है, इसलिये सहकार का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव समाज का। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनगिनत व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करता है और दूसरों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोग देता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति का जीवन ही पारस्परिक सहयोग पर निभर है, हालांकि आज व्यक्ति व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति पर अधिक जोर देने लगा है। वर्तमान युग में, जबकि व्यक्ति की आवश्यकतायें बहुत बढ़ गई हैं, उनकी पूर्ति वह बिना दूसरों की मदद के कर ही नहीं सकता। छोटी से छोटी आवश्यकता की पूर्ति भी अनेक व्यक्तियों के सहकार-श्रम का परिणाम होता है। उदाहरण के लिए हम जिस ट्रेन या बस से यात्रा करते हैं, उसमें भी कितने ही व्यक्तियों का समय एवं शक्ति लगती है। विभिन्न कालों में सहकार का स्वरूप और पद्धतियां बदलती रही हैं। आदिकाल में सहकार का जो स्वरूप था, वह आज नहीं है और आज जो स्वरूप है वह आगे नहीं रहेगा। देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार आपसी सहकार का स्वरूप बदलता रहता है।

समाज शास्त्र में समाज को सामाजिक सम्बन्धों का समूह कहा गया है। समाज में अनेक प्रकार के सम्बन्ध बनते हैं। कुछ सम्बन्ध सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था को संचालित करने में सहायक होते हैं जबकि कुछ सम्बन्ध आर्थिक कार्यों की पूर्ति में सहायक होते हैं। सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से परिवार, कुल, जाति, धर्म आदि सामाजिक संस्थाओं का विकास हुआ जबकि आर्थिक कार्यों के लिए मलिक, मजदूर, व्यवस्थापक आदि के सम्बन्ध कायम हुए हैं।[1] आर्थिक सम्बन्धों की प्रक्रिया में से स्वामित्व का विकास हुआ जिसके

कारण आर्थिक भेद-भाव विकसित हुआ। जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास होता गया, वैसे-वैसे सामाजिक एवं आर्थिक संरचना में जटिलतायें बढ़ती गई। मनुष्य का ज्ञान बढ़ा और इस कारण विज्ञान ने व्यक्ति के जीवन में सुख-सुविधाओं को बढ़ाया जिसे विकास कहा गया। विकास के क्रम में जैसे-जैसे कार्यों का विस्तार हुआ, मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर अधिक निर्भर रहने लगा। इसका सीधा अर्थ हुआ कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों का सहयोग अधिकाधिक आवश्यक होता गया। प्राचीनकाल में व्यक्ति कम लोगों के सहयोग से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेता था लेकिन अब, जबकि उसकी आवश्यकतायें अधिक हो गई हैं, उनकी पूर्ति के लिए असंख्य लोगों की मदद एवं सहयोग की जरूरत होती है। किसी का सहयोग लेना और अपने कार्यों द्वारा दूसरों को सहयोग देना परस्पर पूरक क्रियायें हैं। परम्परागत ढंग की सहकारिता समाज व्यवस्था के विकास का स्वाभाविक परिणाम है। उसके लिए पहले से सोचकर नियम एवं कानून नहीं बनाये गये बल्कि वे सहज ढंग से विकसित होते गये। सामाजिक-आर्थिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से जिन कार्यों के लिए सहयोग की आवश्यकता प्रतीत होती गई उनमें सहज में सहकार होने लगा। उदाहरण के लिये आदि मानव की क्षुधा पूर्ति करने वाले प्रमुख कार्य शिकार को ही लें—इसमें समूह की शक्ति लगती थी। इसी प्रकार कृषि, उद्योग आदि कार्यों में भी पारस्परिक सहकार आवश्यक था। इसे परम्परागत सहकार की संज्ञा दी जा सकती है।

18वीं शताब्दी में यूरोप में प्रारम्भ हुई औद्योगिक क्रांति के कारण जो नई औद्योगिक प्रक्रियाएं चलीं उनमें आर्थिक सम्बन्धों के नियमन के लिये सहकारिता का प्रयास किया गया। औद्योगिकरण ने व्यक्ति को आर्थिक मानव के रूप में देखना प्रारम्भ किया। लेकिन कठिन आर्थिक परिस्थितियों ने व्यक्ति को उपभोग एवं उत्पादन में आपसी सहकार की आवश्यकता स्वीकार करने को विवश किया। उन्नीसवीं सदी में प्रतिस्पर्धा एवं स्वतन्त्र व्यापार ने औद्योगिक एवं व्यावसायिक कार्यों में आपसी सौहार्द को काफी कम किया। इसी दौरान यूरोप में अधिकतम लोगों का अधिकतम हित के विचार को मान्य किया गया तथा व्यक्तिवाद के साथ-साथ उपयोगितावाद तथा समाजवाद की नींव मजबूत होने लगी। इन लक्ष्यों की पूर्ति की दृष्टि से सहकारिता के मार्ग को स्वीकार किया जाने लगा। यद्यपि औद्योगिकरण में प्रतिस्पर्धा, स्वतन्त्र व्यापार नीति आदि की मान्यताएं पूर्ववत् रहीं फिर भी यह महसूस किया गया कि आर्थिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहकार आवश्यक है।

उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक (1840–50) में उपभोक्ता सहकारी समितियों का गठन आरम्भ हुआ। यह माना गया कि उपभोग में सहकार का

विकास होने से जीवन में सहकार का प्रवेश होगा और औद्योगीकरण के कारण व्यक्ति में जिस प्रकार की 'व्यक्तिवादी' मनोवृत्ति पनप गई है, उसमें कमी आयगी। इस प्रकार कानूनी सहकारिता का प्रारम्भ उपभोक्ता सहकारिता से हुआ। बाद में उत्पादन प्रक्रिया में भी सहकारिता को लाने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। मुख्यतः दो कारणों से पाश्चात्य देशों में कानूनी सहकारिता का विस्तार हुआ —(1) औद्योगीकरण में प्रतियोगिता, मुक्त बाजार, आर्थिक शोषण आदि से रक्षा के प्रयास में सहकारिता को एक साधन के रूप में स्वीकृति। (2) व्यक्ति की स्वतन्त्रता, आर्थिक केन्द्रीकरण, पूंजीवादी जकड़न को कम करने तथा राज्य के नियन्त्रण से राहत प्राप्त करने के लिए सहकारिता का अवलम्बन। राज्य ने सहकारिता के विचार को मान्य किया और इसे कानूनी मान्यता भी प्रदान की। भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान उन्नीसवीं सदी के अन्त में कानूनी सहकारिता का प्रारम्भ हुआ और बीसवीं सदी में कानूनी सहकारिता का प्रसार तेजी से हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो इनके प्रकार एवं फैलाव दोनों में ही तेजी आई।

3. अध्ययन की आवश्यकता :

इस प्रकार सहकारिता के दो रूप देखे जा सकते हैं। एक, मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ सुविधा की दृष्टि से सहज विकसित सहकारिता का परम्परागत स्वरूप। दो, औद्योगीकरण एवं नई तकनीक के विकास के कारण व्यक्ति, स्वतन्त्रता और सुविधा के लिये कानूनी सम्मत सहकारिता इस प्रकार की सहकारी समितियों को राज्य ने कानूनी मान्यता दी और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए आर्थिक सुविधाएं प्रदान की। परम्परागत सहकारिता का इतिहास पुराना है और उसका स्वरूप सभ्यता के विकास के साथ-साथ देश एवं काल के अनुसार भिन्न-भिन्न रहा। जबकि कानूनी सहकारिता का प्रारम्भ मात्र पिछली दो शताब्दियों से ही माना जा सकता है। परम्परागत सहकारिता स्वाभाविक रूप से विकसित हुई, जबकि कानूनी सहकारिता तत्कालीन तथा उद्देशीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए योजनाबद्ध ढंग से स्थापित की गई और बढ़ाई गई।

भारतीय परिप्रेक्ष में देखें तो परम्परागत तथा कानूनी दोनों प्रकार की सहकारी व्यवस्थाएं इस समय देश में मौजूद हैं। परम्परागत सहकारिता सामाजिक एवं आर्थिक दोनों क्षेत्रों में पाई जाती है। राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में किये गये सर्वेक्षण के आधार पर यह पाया गया कि उत्पादन कार्यों में परम्परा से आपसी सहकार की ठोस व्यवस्था चली आ रही थी जो कि आज भी घटने और बदलने के बावजूद कमोबेश सभी क्षेत्रों में मौजूद है। विभिन्न क्षेत्रों में इसे

अलग-अलग नामों से जाना जाता है। व्यवस्था आदि में भी अन्तर पाया जाता है। राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन तथा अन्यकामों में जिस की परम्परागत सहकारी व्यवस्थाएं पाई गई उनमें से कुछ इस प्रकार की हैं[3]—

1. ल्हास—किसी व्यक्ति के कार्य को सामूहिक रूप से पूरा करदेना- जैसे-जुताई, कुंआ वनाना, मकान आदि।
2. चौथ या लांगड़ी—सिचाई की सामूहिक व्यवस्था।
3. सामूहिक सांड।
4. पानी की सामूहिक व्यवस्था।
5. सांपा
6. उपभोग में सहकार।
7. सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में सहकारिता—विवाह, मृत्यु त्यौहार आदि के समय आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से सहकार।
8. पारस्परिक विवादों के निपटारें की व्यवस्था के रूप में सहकार।

इसी प्रकार इस देश में कानून सम्मत सहकारी समितियों, संघों का वड़े पैमाने पर गठन किया जा रहा है। कृषि सहकारी समिति, कृषि साख सहकारी समिति, वहुधन्धी सहकारी समिति, उपभोक्ता सहकारी समिति, औद्योगिक सहकारी समिति, दुग्ध सहकारी समिति, सेवा सहकारी समिति आदि अनेक प्रकार की सहकारी समितियाँ देखी जा सकती हैं। यह माना गया है कि इस प्रकार की सहकारी समितियों के माध्यम से छोटे-छोटे समूहों में उत्पादन में प्रवृत्ति होने के लिए साहस का विस्तार होता है तथा उत्पादन, वितरण तथा निर्णय प्रक्रिया में लोकतांत्रिक पद्धति विकसित होती है।

4. उपरोक्त दोनों प्रकार की सहकारिताओं का तुलनात्मक विश्लेपण उपयोगी होगा। वर्तमान समय में दोनों प्रकार ही सहकारिताओं के सामने प्रश्न-चिन्ह लगा है। यह आम धारणा है कि परम्परागत सहकार की व्यवस्था कमजोर होती जा रही है जवकि कानून सम्मत सहकारी समितियां भी सफलता पूर्वक नहीं चल पा रही हैं। यह विचारणीय है कि सदियों से चली आ रही परम्परागत सहकारिता, जिसकी जड़ें काफी मजवूत मानी जाती हैं, क्यों टूटती जा रही हैं? दूसरी ओर कानूनी रूप से मान्य तथा राज्य की ओर से सभी तरह के संरक्षण प्राप्त सहकारी समितियां भी सफलतापूर्वक क्यों नहीं चल पा रही हैं? क्या दोनों प्रकार की सहकारी व्यवस्था में कुछ ऐसे 'कामन' (समान) तत्व हो सकते हैं जिससे सहकारिता को वल मिल सके? यदि परम्परागत सहकारिता एवं कानूनी सहकारिता की व्यवस्थाओं में अन्तर्निहित कुछ समान तत्व वर्तमान सरकारिता की जड़ें मजवूत कर सकते हैं तो यह अध्ययन उपयोगी

भूमिका निभा सकेगा। यह भी हो सकता है कि परम्परागत सहकारिता में कुछ तत्व कानूनी सहकारिता के जोड़ने से वह मजबूत हो सके और परम्परागत सहकारिता के कुछ तत्व कानूनी सहकारिता में जुड़ सकें तो इसकी टूटन रुके और उसे अधिक सफलता मिल सके। उपरोक्त कुछ प्रश्नों की 'खोज-बीन' करने के उद्देश्य से इस विषय को चुना गया हैं। हमारा प्रयास है कि दोनों प्रकार की सहकारी व्यवस्थाओं का विश्लेषण किया जाय। कानूनी सहकारिता के बारे में कई अध्ययन किये भी गये हैं तथा इनकी कमियां, कठिनाइयां सामान्य रूप से स्पष्ट भी हैं। लेकिन परम्परागत सहकारिता का अध्ययन कम हुआ है। इसका आर्थिक पक्ष तो प्रायः अछूता ही है। अतः परम्परागत सहकारिता के आर्थिक पक्ष को विस्तार से देखने का प्रयास किया गया है।

उद्देश्य :

इस अध्ययन का एक मुख्य पक्ष परम्परागत सहकारिता की व्यवस्था की व्याख्या करना तथा उसमें आ रहे परिवर्तनों के कारणों का अध्ययन करना है। परम्परागत सहकारिता आर्थिक कार्यों में किस रूप में तथा किस सीमा तक प्रचलन में रही है इस बात के अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया है। सामाजिक कार्यों, जैसे– विवाह, त्यौहार, धार्मिक आदि कार्यों में सहकार तथा जातीय पंचायतों के माध्यम से विवादों के निपटारे की परम्परा के सम्बन्ध में अध्ययन सामग्री उपलब्ध है, लेकिन उत्पादन के क्षेत्र में किन कार्यों में तथा किस रूप में सहयोग एवं सहकार रहा है, इसकी खोज करने की आवश्यकता है। ग्रामीण जीवन में आर्थिक कार्यों में जिस प्रकार का स्वरूप देखने में आया है उससे यह स्पष्ट होता है कि उत्पादन के क्षेत्र में सहकार की मजबूत परम्परा रही है। लेकिन बदलती परिस्थितियों में वे परम्परायें टूटती जा रही हैं। इसी प्रकार कानूनी सहकारिता के विस्तार में भी अपेक्षित सफलता नहीं मिली है। यह भी विचारणीय मुद्दा है कि परम्परागत सहकारिता का लाभ किस सीमा तक लिया जा सकता है। इस बात पर विचार करना उपयोगी रहेगा कि कानूनी सहकारिता को गति तथा शक्ति प्रदान करने में परम्परागत सहकारिता की व्यवस्था का किस रूप में कितना उपयोग किया जा सकता है और उसका स्वरूप क्या हो ?

इन बातों को ध्यान में रखते हुए अध्ययन के उद्देश्यों को निम्नलिखित मुख्य मुद्दों के रूप में स्पष्ट किया जा सकता है :—

1. परम्परागत एवं कानूनी सहकारिता के ऐतिहासिक संदर्भ में वर्तमान स्वरूप का विवेचन।
2. परम्परागत सहकारिता के प्रकार तथा उनका परिवार, जाति एवं समुदाय से सम्बन्ध।

3. परम्परागत सहकारिता के मूल तत्व एवं इसमें व्यक्ति की भागीदारी।
4. बदलती परिस्थिति में परम्परागत सहकारिता में श्रौद्योगीकरण, शहरीकरण के प्रभाव का सामना करने की क्षमता।
5. बदलते मूल्य एवं तकनीक के संदर्भ में परम्परागत सहकारिता।
6. कानूनी सहकारिता के प्रकार एवं विस्तार की दिशा।
7. कानूनी सहकारिता श्रौर भारतीय समाज के संदर्भ में इसकी वर्तमान स्थिति, कठिनाइयां एवं दिशा।
8. परम्परागत एवं कानूनी सहकारिता की दिशा तथा समन्वय की संभावनाएं।

अध्ययन क्षेत्र :

यह अध्ययन राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्र में किया गया है। विषय की गहराई में जाने की दृष्टि से राजस्थान के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के चार जिलों—जयपुर, भरतपुर, धौलपुर श्रौर अलवर के निम्न गांवों को नमूने के अध्ययन के लिए चुना गया है।

1. जयपुर—
   (1) कानोता
   (2) हीरावाला
   (3) विराट नगर
2. भरतपुर–धौलपुर—
   (1) सिसनी
   (2) थून
   (3) तसीमों (धौलपुर क्षेत्र)
3. अलवर—
   बहादुरपुर

विराटनगर अत्यन्त प्राचीन गांव है। इसे हालही में नगरपालिका का स्तर दे दिया गया है। इस गांव का उल्लेख महाभारत कालीन ग्रन्थों एवं बौद्ध कालीन आलेखों में आता है। यहां सम्राट अशोक का शिलालेख तथा उसके महल के अवशेष भी पाये गये हैं।

पद्धति :

चयन—तथ्य संग्रह के लिए गांवों का चयन रेंडम पद्धति से किया गया। गांवों के चयन में निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा गया है—

(क) ऐसे गांव जिनमें सभी जाति, समूह बसते हों।
(ख) ऐसे गांव जहां कानूनी सहकारी समितियां चल रही हों।

(ग) ऐसे गांव जो नगरीय क्षेत्रों के बिलकुल निकट हों और।

(घ) ऐसे गांव जो शहरी क्षेत्रों से पर्याप्त दूरी पर हों।

नीचे की सारणी में सर्वेक्षित गांवों की मोटी रूपरेख दी जा रही है :

सारणी संख्या 1 : 1

सर्वेक्षित गांव

गांव	परिवार सं.	विशेष
1	2	3
1. कानोता	621	शहर के पास, अपेक्षाकृत नया गांव, किसान एवं अन्य सभी प्रकार के लोग, कानूनी समितियां
2. हीरावाला	120	छोटा गांव, कृषक प्रधान
3. बहादुरपुर	1143	मेव प्रधान पुराना। बुनकर जाति का आधिक्य, शहर से दूर
4. सिसनी	1063	भरतपुर जिले का पुराना गांव, शहर से दूर, जाट प्रधान।
5. थून	289	शहर से दूर, पुराना गांव जहां विभिन्न प्रकार की जातियां निवास करती हैं।
6. तसीमों	620	सड़क के समीप, म. प्र., उ. प्र. सीमा के पास, पुराना गांव। सभी प्रकार की जातियां
7. विराटनगर	1382	राजस्थान का पुराना गांव

सर्वेक्षण के लिए चयनित गांवों में कुल परिवार संख्या में से लगभग 5 प्रतिशत परिवारों के मुखियाओं से साक्षात्कार किया गया है।

जिन गांवों का सर्वेक्षण किया गया तथा विभिन्न सामाजिक-आर्थिक समुदायों के जितने लोगों से साक्षात्कार किया गया है, इनका गांव के कुल परिवार संख्या में प्रतिशत इस प्रकार है :—

सारणी संख्या 1 : 2

सर्वेक्षित परिवारों की संख्या

क्रम गांव का नाम	कुल परिवार	सर्वेक्षितों की सं.	प्रतिशत
1	2	3	4
1. कानोता	621	32	5.15
2. हीरावाला	120	14	11.67

1	2	3	4
3. वहादुरपुर	1143	58	5 07
4. सिसनी	1065	54	5 07
5. तसीमों	620	31	5.00
6. थून	289	15	5.19
7. विराटनगर	1382	70	5.07
योग	5240	274	5.23

तथ्य संग्रह :

तथ्य संग्रह की दृष्टि से सर्वेक्षित गाँवों में निवास करने वाले विभिन्न सामाजिक समुदायों में से निम्न अवस्था। (उम्र) की शृंखला के लोगों (क-40 वर्ष तक, ख–40 से 60 वर्ष तक, ग–60 वर्ष से अधिक) से साक्षात्कार एवं चर्चा की गई। इसके लिए निम्नलिखित प्रश्नावलियां तैयार की गई :—

1. परम्परागत सहकार प्रश्नावली—
   (क) साक्षात्कार प्रश्नावली।
   (ख) व्यक्तिगत सम्पर्क नोटशीट।
2. कानूनी सहकारी समिति अनुसूची।

गाँवों में वसने वाले विभिन्न सामाजिक समूहों के प्रतिनिधि से मिलकर विषय से सम्वन्धित विभिन्न मद्दों पर विस्तार से चर्चा की गई और परम्परागत सहकारिता की पहले क्या स्थिति थी तथा आज क्या स्थिति है, इस वारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया।

यह भी प्रयास रहा कि आज से 40–50 वर्ष पूर्व परम्परागत सहकारिता की क्या स्थिति थी और उसमें किस रूप में परिवर्तन होता रहा, इसकी पूरी जानकारी प्राप्त हो सके, इस सम्वन्ध में जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से 70 वर्ष की उम्र के आसपास के समाज सेवकों, नेताओं, लेखकों आदि से भी चर्चा की गई। अध्ययन के प्रथम ड्राफट पर परम्परागत एवं कानूनी सहकारिता में रुचि रखने वाले वयोवृद्ध एवं विद्वानों से भी विचार-विमर्श किया गया।

सर्वेक्षण के लिए चयनित गाँवों में जिन लोगों से साक्षात्कार किया गया उनका उम्र के अनुसार विभाजन इस प्रकार है :—

सारणी संख्या 1 : 3

उत्तरदाताओं की उम्र

गाँव	40 वर्ष से कम	40 से 60 वर्ष	60 से अधिक	योग
1	2	3	4	5
1. कानोता	7	10	15	32
2. हीरावाला	1	6	7	14
3. बहादुरपुर	12	24	22	58
4. सिसनी	12	25	17	54
5. तसीमों	7	16	8	31
6. थून	3	8	4	15
7. विराटनगर	12	48	10	70
योग	54	137	33	274

यदि उत्तरदाताओं का सामाजिक दृष्टि से विश्लेषण करें तो निम्नलिखित स्वरूप सामने आता है :—

सारणी संख्या 1 : 4

उत्तरदाताओं की सामाजिक स्थिति

गाँव	अ. जा.	अ ज. जा.	मध्यम जाति[1]	उच्च जाति[2]	योग
1	2	3	4	5	6
1. कानोता	8	4	12	8	32
2. हीरावाला	3	4	2	5	14
3. बहादुरपुर	16	–	24	18	58
4. सिसनी	8	–	40	6	54
5. तसीमों	10	–	9	12	31
6. थून	3	1	8	3	15
7. विराटनगर	17	4	35	14	70
योग	65	13	130	66	274

व्यक्तिगत स्तर पर किये गये उक्त साक्षात्कारों के अतिरिक्त गाँव तथा क्षेत्र के लोगों से खुली चर्चा की गई है और प्राप्त तथ्यों को विश्लेषण में शामिल किया गया है।

नोट—1 मध्यम जाति में जाट, गूजर, माली, हरियाणा ब्राह्मण आदि कृषक जातियों को शामिल किया गया है।

2. उच्च जाति में ब्राह्मण, राजपूत, बनिया आदि माने गये हैं।

सारणी संख्या 1 : 5
धन्धे के संदर्भ में उत्तरदाताओं की स्थिति

गाँव	कृषि एवं पशुपालन	उद्योग व्यवसाय	सेवा । नौकरी मजदूरी	योग
1	2	3	4	5
1. कानोता	18	5	9	32
2. हीरावाला	12	10	2	14
3. बहादुरपुर	31	10	17	58
4. सिसनी	39	3	12	54
5. तसीमों	21	4	6	31
6, यून	12	–	3	15
7. विरटनगर	43	12	15	70
योग	176	34	64	274

संदर्भ

1. देखें, जी. पी. श्रीवास्तव, ट्रेडिशनल फॉर्मस ऑफ कोआपरेशन, इण्डिअन कोआपरेटिव यूनियन : नई दिल्ली 1962.
2. जे. पी. श्रीवास्तव, उपरोक्त ।
3. इस सम्बन्ध में तीसरे अध्याय में विस्तार से विचार किया गया है ।

2

सर्वेक्षित गांवों का परिचय

इस अध्याय में परम्परागत एवं कानूनी सहकारिता के अध्ययन में जिन गांवों एवं कस्बे को शामिल किया गया है, उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इन गांवों का सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश एक जैसा नहीं है। मूलभूत सुविधाओं तथा कानून सम्मत सहकारी समितियों की संख्या, सफलता-असफलता की स्थिति भी एक जैसी नहीं है। अत: सहकारिता की दृष्टि से जो भिन्नताएं पाई गई, उन्हें अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। हरेक गांव को उसके ऐतिहासिक परिपेक्ष, सामान्य सुविधाएं, बाहरी (नगरीय) प्रभाव आदि के संदर्भ में भी समझने का प्रयास किया गया है।

1. कानोता :

जयपुर शहर से 13 किलो मीटर की दूरी पर स्थित इस गांव में परम्परागत एवं सरकारी दोनों प्रकार की सहकारिताएं व्यवहार में देखी जा सकती है। कानोता जयपुर रियासत का सौ-सवा सौ साल पुराना ठिकाना रहा है। आज से करीब 100 वर्ष पूर्व इस गांव का व्यवस्थित विकास प्रारम्भ हुआ। गांव में राजपूत के अतिरिक्त हरियाणा ब्राह्मण, कोली, चमार, खाती, नाई, बनिया आदि जातियों के परिवार रहते हैं। जयपुर-आगरा रोड़ पर बसने के कारण यहां आवागमन का साधन प्रारम्भ से उपलब्ध है। गांव में सभी सामाजिक-आर्थिक श्रेणियों के लोग हैं। जागीरी गांव होने के कारण सामंती मानस सहज में देखा जा सकता है। यहां कृषक एवं दस्तकार आपसी सहकार करते थे। इन्हें जागीरदार का संरक्षण प्राप्त था। गांव की जनसंख्या 4186 है जो कि 621 परिवारों में विभाजित है। इन परिवारों का जातीय विभाजन इस प्रकार है :—

सारणी संख्या 2 : 1
जातीय स्थिति : कानोता

जाति श्रेणी	परिवार सं.	आबादी
1	2	3
1. अनुसूचित जातियां	210	1406
2. अनुसूचित जन-जातियां	35	231
3. अन्य	376	2547
योग	621	4184

इस समय गाँव की मुख्य सड़क पर सैकड़ों दूकानें बन गई हैं। गाँव में प्राय : सभी मूलभूत सुविधाएं मौजूद हैं। विद्यालय, औषधालय, पशु औषधालय सहकारी समितियां, हाथकर्घा परियोजना, पेयजल, बिजली, सड़क, टेलीफोन, डाकतार सुविधाएं यहां हैं। जयपुर के समीप होने के कारण सैकड़ो लोग प्रतिदिन शहर जाकर मजदूरी करते हैं। गाँव का जयपुर शहर से जीवंत सम्बन्ध है। आवागमन की दृष्टि से सिटी बस, टैम्पो आदि की सुविधा हमेशा उपलब्ध रहती है।

इस गाँव में निम्नलिखित सहकारी समितियां हैं—

1. ग्राम सेवा सहकारी समिति,
2. दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति,
3. श्रमिक ठेका सहकारी समिति,
4. बुनकर सहकारी समिति,
5. खाती सहकारी समिति।

परम्परागत सहकारिता की दृष्टि से गाँव में आज भी कुछ परम्परायें देखने में आई। कृपक समुदाय–खासकर हरियाणा ब्राह्मणों में कृषि कार्य में आपसी सहकार के कुछ नमूने आज भी देखे जा सकते हैं। इस बात की पुष्टि हुई कि जागीरी व्यवस्था में जागीरदार की छत्रछाया में किसान एवं दस्तकार परस्पर पूरक रूप में सहायक थे। दूसरी ओर जागीरदार के द्वारा शोषण के कुछ उदाहरण भी सामने आये।

इस प्रकार जागीर प्रधान इस गाँव को परम्परागत एवं कानूनी दोनों प्रकार की सहकारिता के अध्ययन के लिए उपयुक्त पाया गया। शहर से समीप होने के कारण परम्परागत सहकारिता पर बाहरी प्रभाव भी देखा जा सकता है। इसी प्रकार गाँव में पांच कानून सम्मत सहकारी समितियों के कार्य का मूल्यांकन भी किया जा सकता है।

2. हीरावाला :

कानोता नायला उपमार्ग पर बसे इस गांव में अनुसूचित जन-जाति (मीणा), मध्यम जातियां तथा कुछ परिवार अनुसूचित जातियों के रहते हैं। यहां के लोगों का मुख्य धन्धा कृषि है। सड़क बनने के बाद आवागमन की सुविधा हो गई है और गांव से काफी लोग जयपुर तथा अन्य कस्बों में मजदूरी करने जाते हैं। आज से 10–12 वर्ष पूर्व, जबकि सड़क एवं यातायात के साधनों का अभाव था, लोग गांव में ही रहते थे। यही नहीं 5–7 वर्ष पूर्व तक सड़क पर कोई भी दुकान नहीं थी। आज अनेक दुकानें बन रही हैं। चाय, साइकिल मरम्मत तथा अन्य फुटकर दुकानें खुल भी गई हैं। जयपुर के एक उद्यमी ने फल संरक्षण उद्योग के लिए शेड बना लिया है और टमाटरों की खरीद प्रारम्भ हो गई है। जयपुर की दूरी 16 किलो मीटर है तथा आने-जाने के लिए बस की सुविधा प्राप्त है। सहकारी समिति नहीं है लेकिन यहां के लोग कानोता ग्राम-सेवा सहकारी समिति से सम्बन्ध हैं। हीरावाला से कानोता की दूरी 3 किलो-मीटर है।

120 परिवारों के इस गांव में निम्नलिखित जातियों के लोग रहते हैं :—

सारणी संख्या 2 : 2
जातीय स्थिति : हीरावाला

जाति का नाम	परिवार संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. मीणा (अ. ज. जा.)	64	53.33
2. अहीर	35	29.16
3. राजपूत	3	2.50
4. महन्त	8	6.67
5. ब्राह्मण	2	1.67
6. अन्य (अ. जा.)	8	6.67
योग	120	100

जातीय संरचना देखने पर यह स्पष्ट होता है कि यहां कृषक जातियां ही अधिक हैं। मीणा, अहीर, राजपूत सभी खेती करते हैं। अनुसूचित जातियों में बैरवा एवं बलाई हैं। भूमि अच्छी है। पिछले दशक से यहां टमाटर की अच्छी खेती होने लगी है। सामान्य सुविधाओं में सड़क तथा प्राथमिक विद्यालय

उल्लेखनीय है। पेयजल, चिकित्सा, बिजली, पशु चिकित्सा आदि की सुविधा नहीं है।

इस गांव में कृषि क्षेत्र में परम्परागत सहयोग का स्वरूप देखा जा सकता है। कृषि कार्यों के साथ-साथ सामाजिक कार्यों में भी सहकार की परम्परा रही है। सभी सामाजिक श्रेणियों के लोगों के होने के कारण यहाँ यह देखने का प्रयास किया गया कि विभिन्न सामाजिक श्रेणियों (अ. जा., अ. ज जा., मध्यम एवं उच्च हिन्दू जातियों) में किन-किन कार्यों में सहकार रहा। हालके वर्षों में परम्परागत सहकार का ह्रास या परिवर्तन आया है वह भी यहां स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

3. बहादुरपुर :

बहादुरपुर अलवर जिले के पुराने गाँवों में है। इस गांव के इतिहास को दो कालों में विभाजित किया जा सकता है। (1) प्राचीनकाल (2) वर्तमान-काल। पुराने अवशेषों के अनुसार तथा अलिखित प्राचीन इतिहास के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि करीब 2000 वर्ष पूर्व यहां पर एक प्राचीन नगर था। वर्तमान गांव करीब 500 वर्ष पुराना माना जाता है।[1] श्री चिनाकीलाल द्वारा लिखित 'अलवर का इतिहास' के अनुसार इस गांव की स्थापना सन् 1400 के आस-पास हुई थी। फीरोजशाह तुगलक के समय में राजा सांभरपाल ने इस्लाम धर्म को स्वीकार किया और अपना नाम बहादुर खां नाहर रखा। वह तुगलक शासन में उच्च पदों पर रहा और इसीने इस गांव को बसाया। इस क्षेत्र के हिन्दुओं ने बड़ी संख्या में इस्लाम धर्म स्वीकार किया जिन्हें 'मेव' के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र को मेवात के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। मुस्लिम एवं अंग्रेजी शासनकाल में मेवों तथा हिन्दुओं में समय-समय पर कटु सम्बन्ध भी रहे। अलवर राज्य के बनने पर यह इसके अन्तर्गत रहा। इस पूरे क्षेत्र में बहादुरपुर प्रमुख गांव है जहां पुरानी मस्जिदें, मन्दिर आदि हैं। 1947 तक इस गाँव में 17 मस्जिदें एवं इमामबाड़े, 17 मन्दिर एवं शिवालय थे। बड़ी संख्या में दूकानें भी थीं। आजादी के तुरन्त बाद के साम्प्रदायिक तनाव एवं हिंसा के वातावरण में सैकड़ों मेव परिवार यहां से पाकिस्तान चले गये। बाद में विनोबाजी के प्रयास से कुछ मेव परिवार वापस आकर इस क्षेत्र में बसे। बहादुरपुर में इस समय 25 मेव परिवार हैं। पाकिस्तान से आये सिंधी-पंजाबी लोग बड़ी संख्या में इस गाँव में बस गये हैं गाँव में अनेक मस्जिदों के खंडहर आज भी मौजूद हैं।

इस गांव की जनसंख्या करीब 6,000 है। गांव की भूमि उपजाऊ है, पानी ज्यादा गहरा नहीं है। जीविका का आधार खेती है। गांव में दूकानें काफी

संख्या में हैं। मूलभूत सुविधाओं की दृष्टि से बिजली, सड़क, डाक एवं तार घर, पेयजल, सहकारी समिति, हाई स्कूल, बैंक, औषधालय, पशु चिकित्सालय आदि यहां हैं। गांव से अलवर जाने के लिए बस सुविधा उपलब्ध है। गांव से अलवर की दूरी 20 किलोमीटर है। पिछले 10–15 वर्षों से यहां के किसानों ने प्याज की खेती प्रारम्भ की है। प्याज नकद आय का महत्वपूर्ण स्रोत है।

गांव में विभिन्न सामाजिक श्रेणियों के लोग रहते हैं। इनकी स्थिति इस प्रकार है —

सारणी संख्या 2 : 3
जातीय स्थिति : बहादुरपुर

जाति	परिवार संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. ब्राह्मण	40	3.50
2. महाजन	70	6.12
3. पंजाबी	80	7.00
4. सिंधी	80	7.00
5. कुम्हार	25	2.19
6. गूजर	20	1.75
7. कोरी	300	26.25
8. नाई	5	0.43
9. राजपूत	4	0.35
10. खाती	25	2.19
11. माली	100	8.75
12. खटीक	40	3.60
13. भंगी	40	3.50
14. चमार	200	17.60
15. अहीर	40	3.50
16 तेली	30	2.62
17. लखेरा	4	0.35
18. फकीर	15	1.31
19. मेव	25	2.19
योग	1143	100

परम्परागत सहकारिता के अध्ययन के परिपेक्ष में बहादुरपुर को ऐतिहासिक महत्व का गांव माना जा सकता है। दूसरी ओर कानूनी सहकारिता एवं मूलभूत सुविधाओं तथा उसके प्रभाव की दृष्टि से भी यह प्रतिनिधि गांव है। इस गांव में ग्राम सेवा सहकारी समिति तथा दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति कार्यरत हैं। परम्परागत सहकार की दृष्टि से यहां विविध आयाम सामने आते हैं। यहां कृषि में परम्परागत सहकार पाया गया क्योंकि कृषक जातियों का आधिक्य है। दूसरी और परम्परागत पेशेवर जातियां यथा-खाती, चमार, खटीक, नाई आदि के होने के कारण परम्परागत सहकारिता में इनकी भूमिका की खोज की जा सकती है। गांव में बाहर की संस्कृति के प्रवेश ने सांस्कृतिक मिश्रण को बल पहुँचाया है। सिंध एवं पंजाब से आये परिवारों ने अपने पूर्व क्षेत्रों की परम्परा एवं संस्कृति को भी कायम रखा है। अतः यहां कई प्रकार की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्परायें हैं जैसे—(1) प्राचीन हिन्दू संस्कृति (2) हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित मेव संस्कृति एवं परम्परायें (3) पंजाबी (4) सिंधी संस्कृति। इस प्रकार पंचायत स्तर के इस गांव में विभिन्न संस्कृतियों के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

4. सिसनी :

सिसनी भरतपुर जिले का वह गांव है जहां से पुरानी भरतपुर रियासत के राजपरिवार का सम्बन्ध रहा है। सत्रहवीं सदी के प्रारम्भ से ही भरतपुर, डीग, अलवर, मथुरा, आगरा क्षेत्र में जाटों का प्रभाव बढ़ता गया। उन दिनों मुगल साम्राज्य की शक्ति कमजोर हो रही थी। इसका लाभ उठाकर इस क्षेत्र के जाट फौजदारों ने स्वयं को आगे बढ़ाया तथा राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। इन्हीं दिनों सिसनी के कुछ फौजदारों ने अपना संगठन मजबूत किया और स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के प्रयत्न किये। कालान्तर में भरतपुर राज्य स्थापित करने में सिसनी के जाट कुल की प्रमुख भूमिका रही। यहां का राजघराना सिसनीवार कहा जाने लगा। लेकिन सिसनी गांव कभी राजधानी नहीं रही।[2] पहले सिसनी के ठाकुर थून में गढ़ बनाकर रहे, बाद में भरतपुर राजधानी बनाई गई। सिसनी गाँव के रूप में ही कायम रहा जहां के लोगों का मुख्य धन्धा कृषि है। सिसनी के ऐतिहासिक महत्व के व्यक्तियों में श्री मज्जा फौजदार, श्री राजाराम, श्री राम छेटा, फतेहसिंह आदि प्रमुख हैं। इस गाँव को मौजा सिसनी के नाम से भी जाना जाता रहा हैं।

भरतपुर से इस गांव की दूरी 30 किलोमीटर है तथा सिसनी से डीग की दूरी 18 किलोमीटर है। करीब 7,000 की आबादी के इस गांव की सामाजिक संरचना इस प्रकार है—

सारणी संख्या 2 : 4
जातीय स्थिति : सिसनी

जाति	परिवार संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. जाट	600	56.34
2. ब्राह्मण	20	1.88
3. महाजन	15	1.41
4. माली	5	0.47
5. कोरी	100	9.39
6. जाटव	250	23.48
7. नाई	15	1.41
8. जोगी	15	1.41
9. कंडेरा	5	0.47
10. खटीक	5	0.47
11. सिक्का	6	0.46
12. खाती	12	1.12
13. दर्जी	6	0.56
14. मनीहार	5	0 47
15. अन्य	6	0.56
योग	1065	100

उक्त सारणी से स्पष्ट है कि यह गांव जाट प्रधान है। कुल परिवारों में से लगभग 56 प्रतिशत जाट हैं। गांव के लोगों से बातचीत करने पर यह बात सामने आई कि आज से 150–200 वर्ष पूर्व इस गांव में फौजदार (जाट) जाति के लोग ही प्रमुख थे। अन्य जातियां प्रायः नहीं थीं। बाद में गांव में अन्य जातियों के लोग आकर रहने लगे और यहीं बस गये। गांव के लोगों ने बताया कि जब कृषि के अतिरिक्त कार्यों तथा कृषि में सहायता के लिए अन्य दस्तकारों की आवश्यकता हुई तो किसानों (जाट) ने अपनी आवश्यकता को देखते हुए दस्तकारों को आमन्त्रित करना शुरू किया। उदाहरण के लिए कृषि कार्य के लिए खाती की आवश्यकता होती है, अतः खाती को यहां बसने के लिए जमीन दी। बाद में दस्तकार जातियों ने स्वयं भी जमीन खरीदी। इसी प्रकार कंजेरा, नाई, खटीक, चमार आदि भी धीरे-धीरे यहां आकर बसने लगे। अतः इस गांव के ऐतिहासिक परिपेक्ष को देखें तो निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(1) सिसनी गांव में मूलत : फौजदार (जाट) जाति के लोग यहाँ आकर बसे।
(2) कालान्तर में कृषि एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दस्तकार तथा अन्य जातियों के परिवार आकर बसे।
(3) अन्य जातियों के लोग दो रूप में यहां आये :— (क) कृषकों ने अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भिन्न प्रकार के परिवारों को आमन्त्रित किया और बसाया (ख) बाद में कुछ दस्तकार अपने धन्धे के लिये यहां आये और बस गये।

भरतपुर, डीग मार्ग पर कुम्हेर के आगे 3 किलोमीटर की दूरी पर बसे इस गांव के लिए सम्पर्क सड़क है। सवारी के लिए तांगे उपलब्ध हैं। गांव में निम्नलिखित सुविधायें मौजूद हैं— (1) सड़क (2) हायर सैकेन्डरी विद्यालय (3) डिस्पेंसरी (4) आयुर्वेदिक औषधालय (5) बिजली (6) दूकानें (7) बैंक (8) डाक एवं तार घर (6) पानी की टंकी। लेकिन अभी पानी यहां पहुंचा नहीं है। गाँव में कृषि का अच्छा विकास हुआ है। इस समय गाँव में 34 ट्रैक्टर हैं। पानी में तेल का अंश होने के कारण कुछ फसलों की खेती सीमित मात्रा में होती है।

सहकारिता की दृष्टि से इस गांव में परम्परागत एवं कानूनी दोनों प्रकार की सहकारी संस्थाएं मौजूद हैं। कानून के अन्तर्गत पंजीकृत ग्राम सेवा सहकारी समिति है लेकिन अभी इसका कार्य बन्द पड़ा है। इस गांव में परम्परागत सहकारिता आज भी देखने को मिलती है। गाँव के लोगों ने बताया कि आज भी कृषि तथा अन्य कार्यों में आपसी सहकार से कार्य पूरा किया जा रहा है।

5. तसीमों :

तसीमों धौलपुर जिले का वह प्रसिद्ध गांव है जिसने स्वतन्त्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस गांव के दो व्यक्ति शहीद हुए—एक, श्री छत्रसिंह और दूसरे, श्री पंचमसिंह। 1946 में गांव के मैदान में गांव के लोगों ने राष्ट्रीय झण्डा लगा दिया था। धौलपुर स्टेट की पुलिस को इसकी जानकारी मिली तो वह वहां पहुंची और गांव वालों को झण्डा उतारने को कहा। ऐसा न करने पर पुलिस ने गोली चलाई और दोनों स्वतन्त्रता सेनानी शहीद हुए। इस ऐतिहासिक गांव में सभी सामाजिक श्रेणियों के लोग हैं। जिला मुख्यालय धौलपुर से इस गांव की दूरी 22 किलोमीटर है। गांव में निम्नलिखित मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध हैं :

1. पक्की सड़क (धौलपुर–रूपवास–भरतपुर मार्ग) 2. बिजली, 3. आयुर्वेदिक औषधालय, 4. पशु औषधालय 5. दुग्ध संग्रह केन्द्र (डालमिया

डेयरी से सम्बन्ध), 6. ग्राम सेवा सहकारी समिति, 7. प्राथमिक, उच्च प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक विद्यालय, 8. पेयजल, 9. डाक एवं तार घर, 10. बैंक। गांव में करीब 70 दूकानें हैं।

620 परिवारों के इस गांव की जनसंख्या 4400 है। जातीय संरचना इस प्रकार है:—

सारणी संख्या 2 : 5

जातीय स्थिति : तसीमों

जाति	परिवार संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. राजपूत (ठाकुर)	110	17.74
2. ब्राह्मण	70	11.29
3. महाजन	99	14 52
4. खाती	10	1.61
5. कछवाहा	108	17.42
6. जाटव	120	19.35
7. धोबी	8	1.27
8. नाई	7	1.13
9. कोली	15	2.42
10. मेहतर	5	0.81
11. दर्जी	3	0.48
12. भड़भूजा	6	0.97
13. सुनार	1	0.16
14. खटीक	20	3.23
15. लोधा	20	3.23
16. अन्य	27	4.35
योग	620	100

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि गांव में राजपूत, जाट व ब्राह्मण, कछवाहा (कृषक) एवं महाजन जातियों का बाहुल्य है। महाजन व्यापार एवं खेती में लगे हैं, जबकि ब्राम्हण कृषि के साथ पूजा-पाठ में लगे हैं। राजपूत मुख्यतः कृषि पर निर्भर हैं। ग्राम का परिवेश कृषि प्रधान है। सड़क के दोनों किनारे बसे इस गांव में अधिकांश लोग कृषि एवं उसके सहायक धन्धों में लगे हैं। बसावट की दृष्टि से गांव दो भागों में विभक्त है। सड़क के एक तरफ उच्च

एवं मध्यम जाति के परिवार हैं जबकि दूसरी ओर अनुसूचित जाति के परिवार बसे हुए हैं। आर्थिक दृष्टि से अनुसूचित जाति के परिवार गरीब हैं, जबकि सवर्णों की स्थिति तुलनात्मक रूप से अच्छी पाई गई।

गांव में ग्राम-सेवा सहकारी समिति है। परम्परागत सहकारिता धीरे-धीरे कम होती जा रही है। गांव के बुजुर्गों से चर्चा करने पर यह बात सामने आई कि इस क्षेत्र में कृषि, सिंचाई आदि कार्यों में आपसी सहकार पर्याप्त मात्रा में था। सहकार में जातीय संकीर्णता प्रायः नहीं थी। आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों में जातीय संकीर्णता से ऊपर उठकर आपसी सहकार की परम्परा थी। लेकिन पिछले 20-25 वर्षों से वह क्रमशः कम होती जा रही है। आज परम्परागत सहकार अधिकांश इतिहास का विषय बनकर रह गया है। हां, कुछ कार्यों में 20–25 वर्ष पूर्व की तुलना में 10–15 प्रतिशत सहकार अभी भी शेष है। आधुनिक सुविधाओं एवं मूलभूत सुविधाओं के विस्तार के कारण गाँव के लोगों का बाहर से सम्पर्क बढ़ा है। गाँव के काफी लोग बाहर जाकर काम करते हैं। औद्योगीकरण के विस्तार एवं शहरी प्रभाव के कारण गांव के लोगों का गाँव से भावनात्मक सम्बन्ध कम होता जा रहा है। यह भी पाया गया कि गाँव में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना बढ़ रही है। इसके कारण कार्य को पूरा करने में सामूहिक प्रयास की भावना में भी कमी आई है। इस गांव में परम्परागत सहकारिता के क्रमिक ह्रास को देखा जा सकता है। गाँव के बुजुर्गों से परम्परागत सहकारिता के सम्बन्ध में जो जानकारी मिली है उससे विषय को समझने में मदद मिल सकती है।

6. थून :

भरतपुर जिले के नगर पंचायत समिति क्षेत्र में यह गाँव स्थित है। यह भरतपुर राजघराने की पुरानी राजधानी रही है। इस समय इस गांव की जनसंख्या 1850 है। गांव का क्षेत्रफल 703 हैक्टर है। कृषि के लिए उपयोगी भूमि होने के कारण प्रायः पूरी भूमि में खेती होती है। गांव में विभिन्न जातियों की स्थिति इस प्रकार है :

सारणी संख्या 2 : 6

जातीय स्थिति : थून

जाति	परिवार संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. जाट	100	34.60
2. चमार	74	25.61

1	2	3
3. मेव	56	19.38
4. कंडेरा	13	4.50
5. महाजन	10	3.46
6. कुम्हार	10	3.46
7. नाई	9	3.11
8. मन्त्री	6	2.08
9. ब्राह्मण	5	1.73
10. पुजारी	2	0.69
11. बढ़ई	2	0.69
12. मीणा	2	0.69
योग	289	100

मध्यम आबादी श्रेणी के इस गांव में मध्यम जातियों एवं अनुसूचित जातियों के परिवार अधिक हैं। गांव में परम्परागत सहकारिता के उदाहरण आज भी देखे जा सकते हैं। यह गांव नदबई, नगर मार्ग पर स्थित है लेकिन गांव के अन्दर प्रवेश के लिए कच्चा रास्ता है। मूलभूत सुविधाओं की दृष्टि से बिजली, प्राथमिक एवं माध्यमिक शाला, औषधालय, ग्राम सेवा सहकारी समिति हैं, लेकिन सहकारी समिति का कार्य कई वर्षों से बन्द है।

7. विराट नगर :

जयपुर जिले में स्थित विराटनगर राजस्थान का पुराना ऐतिहासिक नगर है। यह गांव महाभारत समकालीन माना जाता है। यह राजा विराट की राजधानी थी। कहा जाता है कि उस समय यह शक्तिशाली राज्य था। महाभारत में वर्णित कई योद्धाओं का सम्बन्ध यहां से रहा। आज भी यहां उस काल के कई स्मारक बतलाये जाते हैं।[3]

इस समय विराटनगर का रूप छोटे कस्बे का बन रहा है। वैसे नगरपालिका क्षेत्र होते हुए भी यहां का सारा वातावरण ग्रामीण है। बहुसंख्यक लोग कृषि से जुड़े हुए हैं। पिछले दो दशकों में मूलभूत सुविधाओं, बाजार आदि का तेजी से विस्तार हुआ है। जयपुर से अलवर होकर दिल्ली जाने के मार्ग में बसा होने के कारण यहां के लोगों का अलवर, जयपुर एवं दिल्ली से संबंध है। नगरपालिका क्षेत्र में रहने वाले लोगों की सामाजिक स्थिति इस प्रकार है :

सारणी संख्या 2 : 7
जातीय स्थिति : विराट नगर

जाति	परिवार संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. राजपूत	8	0.58
2. ब्राह्मण	150	10.85
3. महाजन	75	5.43
4. गूजर	100	7.24
5. माली	400	28.94
6. अहीर	100	7.24
7. जोगी	40	2.89
8. तेली	10	0.72
9. कुम्हार	60	4.34
10. खटीक	20	1.45
11. बलाई	100	7.24
12. कीर	20	1.45
13. भंगी	40	2.89
14. धोबी	20	1.45
15. दर्जी	15	1.08
16. सुनार	7	0.51
17. खाती	30	2.17
18. लुहार	4	0.29
19. नाई	10	0.72
20. राणा	20	1.45
21. धानक	3	0.22
22. कोरी	20	1.45
23. कसाई	7	0.51
24. लखेरा	3	0.22
25. मनिहार	2	0.14
26. श्रीमाल	5	0.36
27. भड़भूजा	2	0.14
28. फकीर	5	0.36

1	2	3
29. पापड़ी	5	0.36
30. वारी	1	0.07
31. मीणा	100	7.24
योग	1382	100

सभी प्रकार की सामाजिक स्थिति वाले इस कस्बे में परम्परागत सहकारिता के ऐतिहासिक स्वरूप को देखने का प्रयास किया गया है। मीणा, माली, गूजर, अहीर आदि जातियां मुख्यतः खेती में लगी है। दस्तकार जातियां परम्परागत धन्धों से रोजगार पाती रही हैं। नगरीय क्षेत्र के विस्तार के कारण दुकानों की संख्या भी बढ़ी है। काफी लोग नौकरी-मजदूरी में भी लगे हैं। गांव के कस्बे के रूप में परिवर्तन होने के क्रम में परम्परागत सहकारिता किस रूप में बदलती गई—यह भी यहां देख सकते हैं। कृषक एवं गैर-कृषक समुदाय में पारस्परिक सरकार का जो स्वरूप है, वह भी यहां देखा जा सकता है। विभिन्न जाति समुदायों में आपसी सहकार के नमूने यहां देखने को मिलते हैं

संदर्भ

1. मदनलाल अत्तार, बहादुरपुर का इतिहास, ग्राम पंचायत बहादुरपुर, 1979.
2. देखें, डा. राम पाण्डे, भरतपुर अप टू 1826; राम पब्लिशिंग हाउस जयपुर, 1970.
3. डा. महावीर प्रसाद शर्मा, तोरावाटी का इतिहास : प्रकाशन समिति; कोटपुतली (जयपुर) 1981.

3

परम्परागत सहकारिता का स्वरूप एवं वर्तमान स्थिति

इस अध्याय में निम्नलिखित मुद्दों पर विचार किया गया है:—

(क) परम्परागत सहकारिता या सहयोग की व्याख्या एवं ऐतिहासिक संदर्भ।

(ख) सर्वेक्षित क्षेत्रों में परम्परागत सहकारिता के विविध रूपों की व्याख्या और

(ग) सर्वेक्षित क्षेत्रों में परम्परागत सहकारिता की वर्तमान स्थिति, स्वरूप एवं कठिनाइयां।

परम्परागत सहकारिता का विकास समाज व्यवस्था के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से हुआ है। उस व्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप नहीं है। भारत में परम्परागत सहकारिता का केन्द्र विन्दु कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था है। कृषि से जुड़े अन्य कार्य उसके पूरक रूप में विकसित हुए। यही कारण है कि अन्य कार्यों में लगे लोग (दस्तकार या सामाजिक सेवा प्रदान करने वाले) कृषक समुदाय के साथ संवद्ध रहे। इस संवद्धता का जो स्वरूप भारतीय समाज में विकसित हुआ उसमें कृषि के अलावा अन्य कार्यों में लगे लोग प्राय: आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से कमजोर स्थिति में रहे। उदाहरण के लिए दस्तकार समुदाय (खाती, लुहार, चर्मकार, कुम्हार आदि) तथा सामाजिक सेवाएं उपलब्ध कराने वाले लोग (नाई, धोबी, भंगी आदि) आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से कमजोर एवं पिछड़ी स्थिति में रहे, हालांकि इन्हें सामाजिक-आर्थिक संरचना का सदा अभिन्न अंग माना गया। यह मान्य किया गया कि इनके बिना कार्य पूरा नहीं हो सकता है। यही कारण है कि परम्परा से इनका आर्थिक एवं

सामाजिक व्यवहार इस रूप में परस्पर पूरक थे कि उनके पृथक अस्तित्व की कल्पना (दस्तकार एवं अन्य सामाजिक सेवाओं) ही नहीं की जाती थी। इन परस्पर पूरकता को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि परम्परागत सहकारिता वह व्यवस्था है जिसमें सामाजिक एवं आर्थिक कार्यों को स्वेच्छा से मिलजुलकर पूरा किया जाता है। इसमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं रहता है, न कोई सहायता प्राप्त होती है और न कोई विरोध।

परम्परागत सहकारिता के मूल तत्वों को इस रूप में स्पष्ट किया जा सकता :—

1. परम्परागत सहकारिता का विकास सामाजिक-आर्थिक संरचना के साथ-साथ स्वाभाविक रूप में हुआ है।
2. इसके नियमों (परम्पराओं) का पालन स्वेच्छा से किया जाता है।
3. इसकी पूर्ति में सामाजिक एवं नैतिक प्रभाव का प्रमुख स्थान है।
4. ग्राम प्रधान जीवन में 'ग्राम एक कुटुम्ब' की भावना रही है। इस कारण आपसी निकटता रहती है और कार्यों में सहकार की भावना स्वाभाविक रूप से विकसित होती है।

(क) ऐतिहासिक परिपेक्ष

परम्परागत सहकार वास्तव में जीवन के कार्यों में आपसी सहयोग के रूप में प्रचलित रहा है। इस देश में सामाजिक-आर्थिक जीवन की इकाई परिवार थी लेकिन अनेक कार्यों को पूरा करने के लिए अधिक साधन एवं शक्ति की आवश्यकता होती थी इस कारण पड़ौसियों में, एक जाति के लोगों में, एक गाँव के लोगों में आपसी सहयोग या सहकार की व्यवस्था विकसित हुई। प्राचीन भारतीय समाज रचना में सामाजिक-आर्थिक सहकार को कुल, ग्राम, श्रेणी एवं जाति के रूप में समझा जा सकता है। ये चार संस्थायें सामाजिक एवं आर्थिक सहकार को स्वरूप प्रदान करती रही हैं। इस सम्बन्ध में प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों से इसके संगठन, कार्य, विधि-विधान आदि की जानकारी प्राप्त होती है। 'कुल' को प्राचीनतम सहकार व्यवस्था कहा जा सकता है जिसमें सगोत्रीय व्यक्ति एवं सम्बन्धी आपस में मिलकर, आपसी सहकार से जीवन जीते थे। बाद में यह परिवार के रूप में विकसित हो गया। कुल एक प्रकार का राजनैतिक संगठन भी बना जिसमें कुछ लोग एक साथ संगठित होकर स्वतन्त्र जीवन जीते थे। कालांतर में 'कुल' गाँव के रूप में स्थापित हुआ। लोग एक स्थान पर स्थाई रूप से रहने लगे। गाँव में अनेक संयुक्त परिवार एक स्थान पर रहने लगे। उत्पादन पद्धति के विकास ने कार्यों की विविधता बढ़ाई और कृषि के साथ-साथ व्यवसाय, दस्तकार, कला आदि का विकास हुआ।

प्रशासनतन्त्र के विकास के साथ-साथ प्रशासनिक ढांचा एवं धार्मिक रीति-रिवाजों का भी विस्तार होता गया। इस परिवर्तन एवं विकास में हमेशा गांव एक मजबूत एवं प्रारम्भिक इकाई बनी रही। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अंग्रेजी शासन के पहले तक भारतीय गांव एक स्वायत्त इकाई के रूप में संगठित थे। गांव एक समुदाय था और उसमें रहने वाले परिवार आपसी सहयोग से अपना आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों को पूरा करते थे।[1]

ग्राम स्तर पर सहकार के मुख्यतः दो रूप थे। एक, ग्रामसभा, जिसका गठन गाँव के सभी परिवारों को मिलाकर किया जाता था। सामान्य प्रशासन व्यवस्था के अतिरिक्त इनके कई प्रकार के आर्थिक कार्य थे, जैसे-गाँव की जमीन का सुधार करना, रास्ते बनाना, चारागाह, बाग-बगीचा तथा ग्राम हित के अन्य कार्य। दो, कृषि एवं अन्य कार्यों में आपसी सहकार। किसान, दस्तकार आमतौर पर कृषि साधन सामूहिक रखते थे। उदाहरण के लिए हल, पाटे, पानी निकालने के साधन आदि सामूहिक होते थे। कुंआ सार्वजनिक होता था। एक प्रकार से सेवा सहकारिता का आम रिवाज था।

कालांतर में, आर्थिक कार्यों के विकास होने पर श्रेणी के रूप में व्यवसाय एवं उद्योग का संचालन किया जाने लगा। इसकी कार्य पद्धति गिल्ड (GUILD) के रूप में थी। कौटिल्य के अनुसार श्रेणी एक प्रकार से दस्तकारों एव व्यापारियों का समूह (GUILD) है। महाभारत में इसे व्यापारियों का समूह कहा गया है। सहकारिता के परिपेक्ष में कह सकते हैं कि दस्तकार एवं व्यापारी श्रेणी के रूप में संगठित होकर आपसी सहकार से कार्य का संपादन करते थे। इसी प्रकार कृषक भी इसी रूप में सहकार करते थे और जुताई, सिंचाई, फसल कटाई आदि कार्यों को पूरा करते थे। जातीय सहकार मुख्यतः सामाजिक एवं धार्मिक रूप में था। बाद में जातीय स्वरूप संकीर्ण होता गया और इसमें से अस्पृश्यता जैसी बुराई भी पनपी और बढ़ गई।

प्राचीन व्यवस्था में कृषि आर्थिक जीवन का आधार था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए कृषि से संबंधित कार्यों में सहकारी व्यवस्था अधिक विकसित हुई। महाभारत के सभा पर्व में कहा गया है कि इस काल में राजा तालाब का निर्माण कराता था, ताकि कृषि वर्षा पर निर्भर नहीं रहे।[2] इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि तालाब तथा सड़क-निर्माण, वृक्षारोपण आदि कार्यों को पूरा करने के लिए गांव के लोग स्वयं या अपने मजदूरों को गाड़ी, बैल एवं अन्य साधनों के साथ कार्य पूरा करने के लिए भेजते थे। दक्षिण भारतीय इतिहास में प्राप्त तथ्यों के अनुसार सिंचाई साधनों-तालाब तथा नहर की मरम्मत की जिम्मेदारी समाज की होती थी। मद्रास राज्य में ऐसे अनेक

तालाब हैं जिनकी देख रेख, मरम्मत ग्राम समाज करता है।[3] यह व्यवस्था उन्नीसवीं सदी तक पाई गई। दक्षिण भारत के कई गांवों में सिंचाई साधनों की सामूहिक व्यवस्था के उदाहरण पाये गये। दसवीं सदी में पांडीचेरी के पास के गांवों में तालाब मरम्मत एवं देखभाल की सामूहिक व्यवस्था थी। दक्षिण भारत में ही अन्य कई कार्यों में आपसी सहकार के उदाहरण मिलते हैं, जैसे—सड़क निर्माण, मकान बनाना, भूमि सुधार आदि। इसी प्रकार के एक उदाहरण का जिक्र मिलता है जिसमें उत्तरमल्लुर गांव की सड़क पानी से खराब हो गई थी तथा सड़क संकरी थी। ग्रामसभा ने निर्णय कर सामूहिक रूप से सड़क चौड़ी बनाई। इसी प्रकार नेल्लोर गांव में ग्रामसभा की देखरेख में मकान बने। चारागाह की भूमि की देखभाल, उसका वितरण आदि कार्य भी ग्रामसभा द्वारा गांव के लोगों के सहयोग से किया जाता था।[4]

आधुनिक भारत में भी परम्परागत सहकारिता के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। हरियाणा-पंजाब के गांवों में गन्ने की सामूहिक खेती एवं गन्ना पेराई की सामूहिक व्यवस्था पाई जाती है। किसी की फसल कटाई का कार्य पिछड़ जाने पर "आमंत्रण" की परम्परा थी जिसमें गांव के लोग सामूहिक रूप से फसल काटते थे। इसी प्रकार तालाब निर्माण, फसल की रक्षा चारागाह, पशु चराई आदि में भी सहकार की व्यवस्था थी। इस क्षेत्र में तीन-चार किसानों द्वारा मिलकर कुआं खुदाई करने की परम्परा भी है। करनाल जिले (हरियाणा) के कुछ गांवों में सहकारी खेती की अच्छी परम्परा पाई जाती थी। "लाना" नाम से जाने वाली इस परम्परा में दो से अधिक (कभी-कभी दस) किसान मिलकर निश्चित भूमि पर कृषि करते थे। फसल का बटवारा भागीदार द्वारा लगाई गई श्रम-शक्ति तथा पशुशक्ति के अनुपात में किया जाता था। यह समझौता आमतौर पर एक वर्ष के लिये किया जाता था।[5] इसी प्रकार पंजाब के कुछ क्षेत्रों में फसल तैयार होने पर उसकी कटाई, सफाई का कार्य आपस में मिलकर किया जाता रहा है। भूमि समतल करने का कार्य सामूहिक रूप से करने के उदाहरण भी मिलते हैं। मध्य पंजाब में मकान बनाने के लिए नींव खोदने, दीवार खड़ी करने, छप्पर उठाने आदि कार्यों में आपसी सहकार का रिवाज था। इस परम्परा को मांगली प्रथा कहा जाता था।[6]

(ख) राजस्थान में परम्परागत सहकारिता

परम्परागत सहकारिता का उपरोक्त स्वरूप देश के सभी क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग से व्यवहार में था। यह व्यवस्था इस समय किस सीमा तक व्यवहार में है इस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। राजस्थान के सर्वेक्षित क्षेत्रों में अनेक कार्यों में परम्परागत सहकार पाया गया, हालांकि सहकार की

परम्परागत व्यवस्वा आज अपने पुराने रूप में नहीं रह गई है। फिर भी कई क्षेत्रों में उनका व्यवहारिक रूप कुछ अंशों में कायम है जबकि कई स्थानों पर उसकी यादभर रह गई है। पपम्परागत रूप किन कारणों से किस प्रकार परिवर्तित हो रहा है यह भी रुचिकर विषय है। आगे सर्वेक्षण में प्राप्त तथ्यों के आधार पर इस विषय पर विचार किया गया है।

(क) आर्थिक कार्यों में सहकार

(1) ल्हास—किसी कार्य को सामूहिक अभियान के रूप में पूरा करने की पद्धति को ल्हास कहा ाता है। यदि किसी का कार्य पिछड़ जाता है या उसे शीघ्र करने की आवश्यकता होती है तो वह व्यक्ति अपने पड़ोसियों या गांव के सभी लोगों को ल्हास के लिए आमंत्रित करता है। इस आमंत्रण में कोई भी व्यक्ति-जाति या धर्म का भेद किये बिना शामिल होता है। विभिन्न कार्यों एवं क्षेत्रों में ल्हास की परम्परा एवं पद्धति मे फर्क पाया जाता है। ल्हास का आमंत्रण मुख्यत: निम्नलिखित कार्यों को पूरा करने के लिए दिया जाता है—

(अ) कुंआ खुदाई—इस कार्य के लिए ल्हास आमंत्रण में व्यक्ति बैल, फावड़ा आदि लेकर उस व्यक्ति के पास जाता है जिसका कुआँ खुद रहा होता है। व्यक्ति स्वेच्छा से अपना श्रम देता है। इस प्रकार कुआं खुदाई का कार्य आसान हो जाता है। परम्परागत व्यवस्था में सामान्यत: कुआँ खुदाई में नाममात्र का व्यय होता है। कुआं बनाने वाले का मुख्य खर्च ईंट-पत्थर-चूना, सीमेंट आदि एवं कारीगर की मजदूरी पर होता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि ल्हास पद्धति से कुंआ खुदाई में कुंआ का मालिक व्यक्ति ही होता है।

जो व्यक्ति ल्हास में काम करने आते हैं, उन्हें परम्परा एवं सामर्थ्य के अनुसार भोजन कराया जाता है। देखा यह गया है कि यदि किसी निम्न या अस्पृश्य व्यक्ति ने ल्हास बुलाई है तो उच्च जाति के लोग काम में शामिल तो होते हैं, लेकिन भोजन उसके यहाँ नहीं करते।

(ब) जुताई—कई क्षेत्रों में जुताई के लिए ल्हास आमन्त्रित किया जाता है। यदि किसी कारणवश किसी की खेती पिछड़ गई हो तो वह ल्हास आमन्त्रित करता है। गाँव के असमर्थ किसान, विधवा या आकस्मिक दुर्घटना (आगजनी, मृत्यु आदि) के शिकार व्यक्ति की खेती ल्हास पद्धति द्वारा की जाती पाई गई।

(स) अन्य कृषि कार्य — फसल कटाई के लिए भी ल्हास आमन्त्रित किया जाता है। लेकिन इस कार्य के लिए ल्हास छोटे पैमाने पर होता है और 5–6 व्यक्ति आपस में मिलकर कार्य पूरा कर लेते हैं। इसके अलावा तालाब खोदना, तालाब गहरा करना, छोटी नहर बनाना, गहरा करना

आदि कार्य गांव के लोग आपसी सहकार से करते रहे हैं, लेकिन इन कार्यो के लिए आमन्त्रित लोगों को भोजन नहीं कराया जाता क्योंकि ये कार्य सामुदायिक हित के कार्य होते हैं— किसी व्यक्ति विशेष के नहीं।

(2) चौथ एवं लांगरी —'फसल सिंचाई में सहकार की व्यवस्था को चौथ या लांगरी कहते हैं।' परम्परागत व्यवस्था में कुआं सिंचाई का मुख्य साधन था। बैलजोड़ी द्वारा कुएं का पानी चड़स से निकाला जाता था। अब भी कुंए से पानी निकालने की यह व्यवस्था जारी है। इसमें व्यक्ति के श्रम के साथ-साथ पशुशक्ति भी लगती है। सिंचाई कार्य में एक से अधिक श्रमिकों की एवं पशुओं की शक्ति लगती है। इसी प्रकार एक कुंए पर एक से अधिक ढाणे भी होते हैं। हर ढाणे पर चड़स होता है। बड़े कुंओं पर एक साथ 3-4 जोड़ी बैलों द्वारा भी पानी निकाला जाता देखा गया है। इस स्थिति में एक से अधिक किसान आपसी सहयोग द्वारा कार्य करते हैं। कुंए साझे में बने भी हो सकते हैं और व्यक्तिगत स्वामित्व वाले भी। इस कार्य में सहयोग के कई रूप होते हैं--

(अ) सिंचाई कार्य के लिए पारी निर्धारित कर ली जाती है। जिस दिन जिस किसान की बारी आती है, वह कुंए से पानी निकालता है।

(ब) किसान आपसी सहयोग से बारी-बारी से एक-दूसरे की फसल की सिंचाई कर देते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति एवं पशु भी बारी के अनुसार कार्य करते हैं। इस व्यवस्था में सिंचाई जल्दी हो जाती है, क्योंकि एक साथ एक से अधिक चड़स द्वारा पानी निकालने पर पानी अधिक मात्रा में खींचा जा सकता है।

(स) इस पद्धति में भोजन प्रायः सभी अपने-अपने घर का करते हैं।

यह भी देखने में आया कि व्यक्तिगत स्वामित्व वाले कुंओं से भी पड़ोस के उन किसानों को पानी मिलता रहा है, जिनके स्वयं के कुंए नहीं थे और कुंए वाले किसान के पास फालतू पानी बच जाता था। अब यह परम्परा समाप्त होती जा रही है। व्यक्तिगत कुंए से पेयजल खींचने पर न तो पहले किसी प्रकार की रुकावट थी और न आज है। किसान जब इन्जिन, मोटर पम्प अथवा बैलजोड़ी के द्वारा सिंचाई के लिए पानी खींचता है तो उस पानी में से चाहे जितने घड़े बिना पैसा दिये कोई भी व्यक्ति अपने पीने के लिए ले जा सकता है।

(3) सांपा — 'पशु चराई में चरवाहे की सामूहिक व्यवस्था को सांपा कहा जाता है।' पशु फसल को नुकसान नहीं करें तथा उन्हें चराई की

पूरी सुविधा हो, इस की व्यवस्था के लिए इस पद्धति का विकास हुआ। छोटे गाँव में सामान्यतः ग्राम आधार पर एक ग्वाला नियुक्त किया जाता था, लेकिन बड़े गाँवों में एक से अधिक ग्वाले भी रखे जाते थे। इसमें कार्य विभाजन इस रूप में पाया गया—

(अ) पशुपालक अपना पशु निश्चित समय पर निश्चित स्थान पर छोड़ जाते हैं। पशु भी यह जानने लगता है कि उसे कहां जाना है। अतः घर से छूटते ही पशु स्वयं ही नियत स्थान पर पहुंच जाते हैं।

(ब) चरवाहा चराई के लिए निश्चित स्थान पर सभी पशुओं को ले जाता है।

(स) चरवाहे की यह जिम्मेदारी होती है कि वह यह देखे कि फसल का नुकसान न हो।

(द) पशुपालक पशु संख्या के अनुसार चरवाहे को निर्धारित मात्रा में रुपया अथवा अनाज देते हैं। नकद या अन्न की मात्रा गाँव की परम्परा के अनुसार निश्चित की जाती है।

(य) सायंकाल चरवाहा पशु को गाँव में लाकर छोड़ देता है। सामान्यतः पशु स्वयं अपने-अपने घर चले जाते हैं। कुछ पशुपालक स्वयं भी आकर ले जाते हैं। यदि चरवाहे की असावधानी से कोई पशु खो जाय तो चरवाहे को उसकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ती है, लेकिन यदि शेर-बघेरा आदि पशु को उठा ले जायें और चरवाहे का प्रतिरोध पार न पड़े तो चरवाहे से क्षतिपूर्ति नहीं कराई जाती।

(4) सांड — परम्परागत सहकार व्यवस्था गाँव के उपयोग के लिये सामूहिक सांड की व्यवस्था पाई गई। इस व्यवस्था के दो स्वरूप रहे—

(अ) किसी सम्पन्न व्यक्ति द्वारा सांड खरीद कर ग्राम-समाज के सुपुर्द कर दिया जाता है।

(ब) सामूहिक चन्दा करके सांड खरीद लिया जाता है और सांड की देखभाल की सामूहिक जिम्मेदारी होती है। लोग स्वेच्छा से चारा-दाना आदि देते हैं। सांड खेतों में घूम कर खाने के लिए स्वतन्त्र रहता है। कई गांवों में यह व्यवस्था भी है कि सांड से जिस गाय का समागम कराया जाता है, उस गाय का मालिक सांड के चारे-दाने के लिए समाज को निर्धारित मात्रा में नकद पैसा अथवा दाना मुहैया करता है।

(5) दस्तकार का कृषि में सहकार (कृषक-दस्तकार सहयोग)— कृषि प्रधान समाज के साथ परम्परागत दस्तकार अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। ग्रामीण दस्तकार एवं कृषक एक-दूसरे के पूरक रहे हैं और आज भी यह पूरकता एक सीमा तक कायम है। दस्तकार एवं कृषक अपनी आर्थिक आवश्यकताओं

की पूर्ति आपसी सहकार से करते हैं। कृषि कार्य में जिन दस्तकारों का सहयोग रहता है उनमें खाती, लुहार, मोची और कुम्हार मुख्य हैं। इन्हें इनकी सेवाओं के बदले उत्पादन में हिस्सा मिलता है। गांव का खाती एवं लुहार हल तथा अन्य कृषि यन्त्रों की मरम्मत आदि कार्य करते हैं जबकि मोची चरस जैसे साधन उपलब्ध कराता है। दस्तकार निश्चित कृषक परिवारों के साथ जुड़ा रहता है। दस्तकार को मिलने वाले हिस्सों की मात्रा विभिन्न क्षेत्रों में एक जैसी नहीं है।

(ख) सामाजिक कार्यो में सहकार

सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यो में सहकार की परम्परागत व्यवस्था को मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं:—

(क) ऐसे सहकार जिनका आर्थिक महत्व है।

(ख) गैर आर्थिक अर्थात् सामाजिक एवं सांस्कृतिक-धार्मिक कार्यो में सहकार।

(क) आर्थिक कार्यो में जातीय दस्तकारों का सहयोग

1. खाती

कृषि में प्रयुक्त होने वाले साधनों का निर्माण एवं मरम्मत का कार्य खाती (लकड़ी का काम करने वाला) द्वारा किया जाता है। उसे इसके बदले में उत्पादन का हिस्सा मिलता है। खाती मिलने वाले प्रतिफल के दो रूप पाये गये—जजमानी पद्धति के अनुसार उत्पादन में हिस्सा। और चारपाई, चौकी, दरवाजे आदि बनाने पर इन कार्यो के बदले मजदूरी।

आर्थिक लेन-देन के नियम विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग हैं। सामान्यतः लाव (बैल जोड़ी) के आधार पर खाती को मिलने वाले अन्न की मात्रा फसलवार निर्धारित होती है।

2. लुहार

कृषि कार्य में आने वाले लोहे के साधनों को तैयार करने एवं उनकी मरम्मत का कार्य लुहार करता है इसके बदले में इसे भी लाव के अनुसार उत्पादन का एक हिस्सा मिलता है। खाती एवं लुहार दोनों के बारे में एक बात यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि साधन तैयार करने में लगने वाली लकड़ी एवं लोहा किसान लाता है या उसकी कीमत देता है। कारीगर अपने श्रम एवं कुशलता का पारिश्रमिक उत्पादन में हिस्से के रूप में प्राप्त करता है। खाती एवं लुहार दोनों ही निश्चित कृषक परिवारों से जुड़े होते हैं।

3. रैगर-चमार

कृषि कार्य में चमड़े का भी उपयोग होता है। परम्परागत व्यवस्था में रैगर मुख्यतः चड़स बनाने का कार्य करता है जिसका उपयोग सिंचाई के

लिए किया जाता है। ये लोग जूता भी बनाते हैं, लेकिन जूते की कीमत अलग से वसूल की जाती है। जूतों की मरम्मत का कार्य करने के लिए चर्मकार को अलग से कोई मजदूरी नहीं मिलती। चमड़े का काम करने वाले को विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग नामों से जानते हैं जैसे—रैंगर, चमार, मोची आदि। इसी से मिलता-जुलता कार्य पशु का चमड़ा निकालने का भी है। यह बात देखने में आई कि चमड़े के कार्य में जजमानी पद्धति का वैसा रूप नहीं हैं जैसा खाती एवं लुहार के मामले में है। जिस ढंग से खाती एवं लुहार को लाव के आधार पर अनाज मिलता है, उस तरह चमार को नहीं मिलता। इन्हें कार्य के अनुपात में पारिश्रमिक दिया जाता है। उत्पादन में हिस्सा अनिश्चित रूप में, किसान अपनी मर्जी के अनुसार देता है।

(ख) सामाजिक कार्यों में पेशेवर जाति का योग

जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की परम्परागत व्यवस्था में पेशेवर सेवा करने वालों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ये पेशेवर जाति समूह ऐसे सामाजिक कार्यों को पूरा करते हैं जिनका दैनिक जीवन में आर्थिक महत्व भी है, लेकिन मुख्यत: ये लोग सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों को निर्वाह करने में अधिक योगदान देते हैं।

1. नाई

वैसे तो नाई का मुख्य कार्य बाल बनाने का है लेकिन परम्परागत व्यवस्था में नाई निम्न कार्यों का भी संपादन करते पाये गये—

(अ) बाल बनाना।

(ब) विशेष धार्मिक एवं सांस्कारिक अवसरों पर बाल बनाना, जैसे-मुण्डन के अवसर पर, विवाह के अवसर पर या मृत्यु के अवसर पर।

(स) विवाह निश्चित करने में संदेशवाहक का कार्य, निमन्त्रण देना आदि।

(द) अन्य सामाजिक कार्यों में परम्परा के अनुसार कार्य पूरा करना। विवाह के अवसर पर नाइन भी इस कार्य में हाथ बंटाती है।

नाई को मिलने वाले हिस्से के भी दो रूप पाये गये। एक, उत्पादन में हिस्सा, जिसका स्वरूप जजमानी है। दो, कार्य विशेष एवं अवसर विशेष के समय मिलने वाली सुविधा। उदाहरण के लिये जब बाल बनाता है उस समय निश्चित मात्रा में खाना मिलता है। विवाह आदि अवसरों पर खाद्य पदार्थ, कपड़े आदि मिलते हैं।

2. कुम्हार

घरेलू उपयोग के लिए मिट्टी के बरतन—तवा, घड़ा आदि की आपूर्ति के बदले कुम्हार को भी निश्चित मात्रा में अनाज मिलता है। खास अवसरों पर

विशिष्ट सेवा के लिए अलग से अनाज तथा अन्य चीजें प्राप्त होती हैं, लेकिन अब मिट्टी के बरतनों का उपयोग कम होने के कारण कुम्हार की जजमानी व्यवस्था समाप्त होती जा रही है।

3. धोबी

परम्परागत व्यवस्था में धोबी भी जजमानी व्यवस्था का अंग रहा है, लेकिन धोबी का सम्बन्ध सामान्यत: बड़े किसानों से रहा है क्योंकि वे ही उसकी सेवाओं का लाभ उठाते हैं। धोबी की परम्परागत व्यवस्था भी प्राय: समाप्त होती जा रही है। वैसे धोबी के कपड़े धोकर लाने पर खाना मिलता है और विवाह आदि सामाजिक अवसरों पर रुपया, कपड़ा, खाद्य पदार्थ आदि मिलते हैं।

4. भंगी

सफाई भंगी का मुख्य धन्धा है। इसके अलावा वे छाजला, टोकरी बनाने का कार्य भी करते हैं। व्यवसाय की दृष्टि से ये लोग सुअर पालन भी करते हैं। परम्परागत व्यवस्था में इनको मिलने वाला प्रतिफल सबसे कम पाया गया। गांव या कस्बे में भंगियों की संख्या एक से अधिक होती है, तो गांव के मुहल्ले या घर आपस में परम्परागत रूप से बंटे हुए होते हैं, मुहल्ले या घरों पर एक दो परिवारों का एकाधिकार होता है। कभी-कभी कोई भंगी अपनी जजमानी के घरों को गिरवी भी रख देता है या बेच भी देता है। गिरवी रखकर दिया घर भंगी वापिस भी छुड़ा लेता है अन्यथा जिस नये भंगी को वह जजमानी गिरवी रखी या बेची जाती है, वह पूर्व शर्तों पर परिवार की सेवा करता रहता है। प्रतिदिन झाड़ू निकालने के बदले इनको रोटी मिलती है। कस्बों में शौचालय होने पर पाखाना सफाई का कुछ मासिक राशि भी दे दी जाती थी, जो अत्यन्त कम होती थी, उदाहरणार्थ जयपुर में पाखाना सफाई का भंगी को परिवार की ओर से चार आना से आठ आना मासिक तक दिया जाता था। रोटी प्रतिदिन अलग से दी जाती थी। उत्पादन का हिस्सा नहीं मिलता। इन्हें तो काम के बदले में मात्र रोटी मिलती है। इस जाति के लोग समाज में सबसे अधिक शोषित एवं उपेक्षित रहे।

दस्तकार तथा अन्य प्रकार की सेवायें प्रदान करने वाले, जातीय व्यवस्था के माध्यम से अपनी तथा दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। इस व्यवस्था में जातीय भेद-भाव तथा आर्थिक शोषण के तत्व भी शामिल हो गये हैं। भूमि ग्रामीण क्षेत्र का मुख्य आर्थिक आधार है। ग्रामीण जीवन का आर्थिक ढांचा भूमि और इस प्रकार कृषि पर निर्भर करता है। इस परिस्थिति में जिनके पास भूमि है, वह अधिक समर्थ हो जाता है। यह पाया गया कि दस्तकारों एवं

अन्य प्रकार की सेवाएं प्रदान करने वाले के पास भूमि कम या नहीं रहती है। यही कारण है कि उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर रहती है। समाज में उनका स्थान नीचा रहता है।

अब धीरे-धीरे दस्तकारों के कार्य नकदी के आधार पर पूरा किये जाने लगे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि गांवों में कृषकों और दस्तकारों के बीच आर्थिक और सामाजिक सम्बन्ध सहकारिता, पारिवारिकता और सेवा के बजाय होड़, मुनाफा और व्यापारिकता की तरफ बढ़ते और बदलते जा रहे हैं।

(ग) अन्य कार्यों में आर्थिक सहकार

(1) मकान निर्माण

मकान बनाने का कार्य आर्थिक दृष्टि से काफी खर्चीला माना जाता है। ग्रामीण परिवेश में इस कार्य को कम खर्चीला बनाने की दृष्टि से इस कार्य में सहकार होता पाया गया। यदि मकान सामान्य ढंग का है तथा तकनीकी दृष्टि से सरल है तो गांव के लोग काफी कार्य अवकाश के दिनों में आपसी सहयोग से कर लेते हैं। सहकार के आधार पर किये जाने वाले कुछ कार्य इस प्रकार हैं –

(अ) पट्टियां चढ़ाना या छप्पर उठाना—दीवार बनने के बाद पत्थर की पट्टियां चढ़ाना या फूस का छप्पर चढ़ाने का कार्य आपसी सहयोग से कर लिया जाता है। पट्टी चढ़ाने में योगदान देने वालों को कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाता बल्कि उन्हें गुड़ बांटा जाता है।

(ब) दीवार खड़ी करना—गांवों में मिट्टी की दीवार बनाई जाती है। इस कार्य को गांव के लोग जानते हैं। एक-दो मजदूर रखकर शेष कार्य आपसी सहयोग से कर लिया जाता है। लेकिन अब ईंट या पत्थर का मकान बनने के कारण उसके लिए कारीगर रखना पड़ता है। फिर भी कई क्षेत्रों में सहकार से दीवार बनाने की परम्परा है।

(स) ईंट का भट्टा लगाना—आज ईंट का भट्टा लगाया जाना व्यवसाय बन गया है। लेकिन आज से 20–25 वर्ष पूर्व तक कई क्षेत्रों में यह कार्य छोटे पैमाने पर किया जाता था। मकान बनाने वाला व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार 20–25 हजार से लेकर एक-दो लाख ईंट तक का भट्टा लगाता था। ईंट थापने, भट्टा लगाने एवं पकाने का कार्य आपसी सहकार से किया जाता था। इसके बदले में सहयोग देने वाले व्यक्ति को भोजन कराया जाता था।

(2) 'पी' पानी सहकार

कई क्षेत्रों में पीने का पानी निकालना एवं लाना कठिन कार्य है। रेगिस्तानी क्षेत्र में पीने के पानी की व्यवस्था आपसी सहकार से की जाती है। इसकी व्यवस्था इस प्रकार पाई गई—

पानी निकालना—गांव के सभी लोग बारी-बारी से कुंओं से पीने का पानी निकालते हैं। पानी निकालने का समय निश्चित होता है। यह कार्य बैल एवं चड़स से किया जाता है। सामान्यतः अस्पृश्य जातियां पानी निकालने का कार्य नहीं करती हैं लेकिन उन्हें पानी लेने दिया जाता है। पानी के लिए अलग से उनसे कुछ नहीं लिया जाता है।

(3) दैनिक उपयोग की वस्तुयें

परम्परागत व्यवस्था में दैनिक उपयोग की कई चीजें उन लोगों को आपसी प्रेम एवं सहकार की भावना के कारण प्राप्त हो जाती है जिनके पास उन वस्तुओं की आपूर्ति का साधन नहीं होता। इनमें मुख्य हैं-दूध, छाछ, साग-सब्जी, मौसमी फल, घास, गोबर आदि।

यह देखा गया कि गांव में जिनके पास पर्याप्त पशु हैं और जो दूध नहीं बेचते, वे छाछ मुफ्त में दे देते हैं। पहले राजस्थान के कई क्षेत्रों में दूध बेचने का रिवाज नहीं था। दूध बेचना पूत (पुत्र) बेचने जैसा अनुचित माना जाता था। यहां छाछ गांव या मुहल्लों के लोगों में मुफ्त में मिल जाती थी। अब दूध की नकद बिक्री के व्यापक प्रसार के कारण छाछ बनने की प्रथा प्रायः समाप्त हो गई है। इसी प्रकार गाजर, पालक, मूली तथा अन्य मौसमी साग-सब्जी आपसी सहकार की भावना के कारण मिल जाती थी। शहर के समीप के गांवों में यह व्यवस्था भी समाप्त होती जा रही है।

ग्रामीण क्षेत्र में कस्बे या शहर से आवश्यक सामान लाना भी एक समस्यापूर्ण कार्य रहा है। क्योंकि हर व्यक्ति शहर या कस्बे तक नहीं जा सकता। यह पाया गया कि गांव का कोई व्यक्ति शहर या कस्बे में जाता है तो पास-पड़ौस के लोगों का सामान आपसी सहयोग की भावना से बिना लाभ लिये ला देता था। उपभोक्ता वस्तुएं तैयार करने में आपसी सहकार की परम्परा पाई जाती रही है। शादी के समय आटा, बेसन, पापड़-मंगोड़ी तैयार करने का कार्य सहयोग से किया जाता था। सामान्य दिनों में भी महिलायें आपस में मिलकर पापड़-मंगोड़ी तैयार करती रहीं हैं। इस प्रकार उपभोक्ता वस्तुओं को तैयार करने में महिलाओं में आपसी सहकार देख सकते हैं।

(4) आवागमन

ग्रामीण क्षेत्र में आवागमन का मुख्य साधन बैलगाड़ी, ऊंटगाड़ी तथा ऊंट रहे हैं। विवाह जैसे अवसर पर जिन लोगों के पास ये साधन हैं, वे सहकार

भावना से उन साधनों को अपने पड़ौसियों एवं जाति वालों को निःशुल्क उपलब्ध कराते हैं। बीमारी आदि के समय भी आवागमन के साधन मांगने से मिल जाते हैं। इसके बदले किसी प्रकार का आर्थिक लेन-देन नहीं होता। हाल के वर्षों में ट्रैक्टर का उपयोग बढ़ा है। कई गांवों में जाने-आने के लिए ट्रैक्टर-ट्राली की सुविधा भी मुफ्त में उपलब्ध हो जाती है।

सामाजिक संस्कार तथा अन्य अवसरों पर आर्थिक सहकार-सामाजिक कार्यों एवं संस्कारों यथा—विवाह, मृत्यु, यात्रा, मेला, त्यौहार एवं अन्य धार्मिक सामाजिक कार्यों में आर्थिक सहयोग की परम्परा पाई गई। इन कार्यों के सहयोग को इस रूप में विभाजित किया जा सकता है—

1. विवाह

विवाह संस्कार के अवसर पर कई प्रकार से आपसी सहकार होता पाया गया—

(क) नकद मदद — विवाह के समय नाते-रिश्तेदार तथा पड़ौसी परम्परा के अनुसार नकद सहायता करते हैं। इसे न्यौता के नाम से जाना जाता है।

(ख) भोजन सम्बन्धी सामग्री—सब्जी, दूध, अनाज आदि के रूप में विवाह करने वाले परिवार की मदद कर देते हैं।

(ग) आतिथ्य—बारात में आने वाले मेहमानों को ठहराने की व्यवस्था में आपसी सहकार होता है। मेहमान कई घरों में बंट कर रहते हैं। कई बार मेहमान जहां रुकते हैं वहीं नाश्ता भी करते हैं। कई बार उनके लिए खाट, बिछावन एवं जल आदि की व्यवस्था भी की जाती है।

(घ) साधनों का सहयोग—विवाह में उपयोग में आने वाले साधन-सामग्री जैसे-लवाजमा, दरी, बरतन, फर्नीचर आदि उपयोग के लिए निःशुल्क दे दिये जाते हैं।

(च) अन्य सहयोग — खाना बनाने, खाना खिलाने, सामान लाने तथा अन्य कार्यों में आपसी सहयोग रहता है।

2. मृत्यु

गांव में किसी की मृत्यु होने पर शवदाह के लिए ईंधन में सहयोग देने का रिवाज है। दाह में जाने वाले लकड़ी ले जाते हैं। यह भी देखा गया कि यदि मृतक का परिवार असहाय है तो गांव के लोग आर्थिक रूप में भी सहयोग करते हैं। मृतक भोंज के लिए बिना ब्याज ऋण देते हैं। यह पाया गया कि यदि कृषक परिवार के मुखिया की मृत्यु हुई और घर में काम करने वाला नहीं है तो गांव के लोग उसे खेत की जुताई, कटाई आदि कृषि कार्यों में सहयोग देते हैं। पड़ौस की स्त्रियां भोजन बनाने आदि के कार्य में सहयोग देती हैं।

(ग) परम्परागत सहकारिता का बदलता स्वरूप एवं वर्तमान स्थिति

अध्याय के पूर्व भाग में परम्परागत सहकारिता के विभिन्न रूपों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। जैसाकि पहले भी कहा गया है, आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों में परम्परागत सहकार की व्यवस्था सभी स्थानों पर एक जैसी नहीं है। कार्य एवं सहयोग की प्रकृति में समानता के बावजूद सहकार की कार्य पद्धति में अन्तर देखा गया। परम्परागत सहकार में आर्थिक लेन-देन का अंश कम पाया गया। उदाहरण के लिए कुआ खुदाई में ल्हास आमंत्रित करने पर आमंत्रित करने वाला आमंत्रितों को भोजन कराता है। भोजन का स्तर एवं प्रकार व्यक्ति की क्षमता, इच्छा तथा क्षेत्र की परम्परा पर निर्भर करता है। सर्वेक्षित क्षेत्रों-गांवों में परम्परागत सहकार में परिवर्तन की प्रक्रिया तथा उसका व्यावहारिक रूप इस प्रकार पाया गया—

1. ल्हास

जयपुर, अलवर तथा भरतपुर-धौलपुर सभी क्षेत्रों में ल्हास की परम्परा पाई गई। ल्हास का आमन्त्रण उन्हीं कार्यों के लिए किया जाता है जिन्हें जल्दी पूरा करना है या जिसके लिए एक साथ अधिक श्रमशक्ति की आवश्यकता होती है। सिसनी एवं तसीमों गांवों के उत्तरदाताओं ने बताया कि यदि किसी किसान की खेती पिछड़ गई हो या किसी कारणवश खेती करने में असमर्थ हो तो वह ल्हास आमन्त्रित करता है। लेकिन ल्हास, कृषि की सामान्य व्यवस्था नहीं है। वह तो विशेष परिस्थिति में ही आमंत्रित की जाती है। ऐसा नहीं कि सामान्य स्थिति में अपना काम जल्दी कराने के लोभवश ल्हास आमंत्रित कर ली जाय। गांव के लोगों को इस बात की जानकारी रहती है कि वास्तव में कार्य पिछड़ा है या नहीं। कृषि में मोटे तौर पर इस पद्धति से दो कार्य किये जाते हैं- (1) जुताई (2) फसल कटाई। ल्हास का एक अन्य क्षेत्र कुआ खुदाई भी पाया गया। प्रायः सभी क्षेत्रों में कुआ खुदाई के लिए ल्हास आमन्त्रण की बात कही गई।

सर्वेक्षित गांवों के लोगों की राय में ल्हास पद्धति से कार्य करने पर किसान को कई लाभ हैं :—

(क) आर्थिक बचत—कुआं खुदाई में लगने वाले नकद खर्च की बचत होती है।

(ख) कार्य में शीघ्रता आती है।

(ग) स्वेच्छा से करने के कारण कुशलता भी आती है। काम ज्यादा होता है।

(घ) असमर्थ को सहारा मिल जाता है।

इस पद्धति से कार्य संपादित करने पर कितनी आर्थिक बचत होती है, इसका अनुमान लगाने का प्रयास किया गया। आज से 40-50 वर्ष पूर्व

कुंश्रा खुदाई में जितना नकद व्यय होता था, आज उससे कई गुना अधिक होता है। अन्य खर्चों में भी काफी अन्तर आया है। अतः हमने इस बात का अनुमान लगाने का प्रयास किया कि ल्हास पद्धति से कार्य करने वाले को किस अनुपात में बचत होती है। ल्हास से कार्य करने पर बचत का अनुमान इस प्रकार पाया गया।

सारणी संख्या 3 : 1

ल्हास पद्धति से आर्थिक बचत[7] (प्रतिशत में)

कार्य का प्रकार	क्षेत्र				
	कानोता/हीरापुरा	बहादुरपुर	सिसनी थून	तसीमों	विराटनगर
1	2	3	4	5	6
1. कुंआ खुदाई	40–60	30–50	50–70	30–40	40–60
2. जुताई	70–80	60–70	50–60	60–70	60–70
3. फसल कटाई	60–80	50–70	60–70	50–60	50–60
4. अन्य कार्य	40–50	40–60	50–60	40–50	60–70

ल्हास आमन्त्रित करने पर बदले में मिलने वाली सुविधाओं में प्रायः समानता पाई गई। सिसनी एवं थून गांवों में ल्हास में शामिल होने वाले व्यक्ति को दोपहर का भोजन कराया जाता है। भोजन अच्छा बनता है क्योंकि जो व्यक्ति काम करने आते हैं वे सामान्य मजदूर नहीं होते, वे तो समान स्तर के तथा कभी-कभी तुलनात्मक दृष्टि से अच्छी स्थिति के लोग भी होते हैं। अतः अच्छा खाना देने का प्रयास रहता है। कई लोग तो इस अवसर पर विशेष भोजन की व्यवस्था करते हैं। इस कार्य को जिस रूप में सम्पादित किया जाता है वह रुचिकर होता है। वह एक ऐसे समारोह के रूप में हो जाता है जिसे सहभोज या पिकनिक-गोठ भी कह सकते हैं। लोग मेहनत से काम करते हैं और प्रेम से सहभोज में शामिल होते हैं। भोजन के स्तर के बारे में कहा जा सकता है कि रोटी-साग से लेकर पूरी-खीर तक का रिवाज है। साथ में आने वाले पशुओं को चारा भी दिया जाता है। इस प्रकार यह आर्थिक के साथ-साथ सांस्कृतिक सहकार के रूप में भी महत्वपूर्ण परम्परा है।

नोट—उपरोक्त अनुमान गाँव के लोगों के साथ बैठकर हिसाब लगाकर निश्चित किया गया है।

बदलती परिस्थिति

यह ग्राम राय रही कि ल्हास की पद्धति अब काफी कम हो गई है। पिछले 30–40 वर्षों से इसमें ह्रास हो रहा है। कुछ क्षेत्रों में तो यह ग्राज भी मौजूद है लेकिन अधिकांश में अब इसकी याद भर रह गई है। भरतपुर-धौलपुर के गाँवों में इसके उदाहरण ग्राज भी देखे जा सकते हैं। सिनसी तथा तसीमों में लोगों ने बताया कि कुंग्रा खोदने, फसल कटाई, मेड़बन्दी के कार्यों में ग्राज भी यह पद्धति पाई जाती है। यदि कालक्रम के अनुसार तुलना करें तो इन गाँवों में ग्राज से 30–40 वर्ष की तुलना में ग्राज यह परम्परा 30–40 प्रतिशत रह गई है। निराई, जुताई जैसे कार्यों में तो प्राय: समाप्त हो गई है। बहादुरपुर में यह पद्धति मात्र 10–12 प्रतिशत पाई गई। जयपुर के क्षेत्र में मात्र इसकी याद रह गई है। धौलपुर क्षेत्र में मेड़बन्दी में यह व्यवस्था ग्राज भी पाई जाती है।

इस पद्धति के ह्रास अथवा समाप्ति के कई कारण सामने ग्राये। मुख्य कारण ये हैं—

(क) व्यक्तिगत स्वार्थ एवं कार्य व्यस्तता —ग्राज हर व्यक्ति व्यस्त है। ग्राथिक जीवन इतना जटिल एवं कठिन हो गया है कि उसे दूसरे की मदद करने या उसके बारे में सोचने की फुरसत नहीं है। एक समय था जब साल में कुछ महीनें किसान को फुरसत रहती थी। खेती में काम नहीं रहता था। उस समय किसान एक-दूसरे की मदद करते थे तथा अन्य कार्यों के लिए समय देते थे। अब ऐसा नहीं है। दूसरी ओर अब व्यक्तिगत स्वार्थ पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। दूसरे के कार्य में मदद का मानस समाप्त हो गया है।

(ख) तकनीकी विकास— कृषि के साधनों में अन्तर ग्रा गया है। ट्रैक्टर, पम्प-इंजिन, थ्रेशर ग्रादि के उपयोग ने परम्परागत व्यवस्था को समाप्त कर दिया है। इन साधनों के उपयोग में नकद खर्च होता है। ट्रैक्टर में पूंजी लगती है, डीजल लगता है, पम्प, इंजिन की भी यही स्थिति है। अत: इन साधनों के उपयोग के बदले पैसा लिया जाना स्वाभाविक है। खेत जुताई के कार्य में सहकार में उत्तरोत्तर कमी ग्राने का एक मुख्य कारण ट्रैक्टर का फैलाव भी है।

(ग) मुद्रा का व्यापक प्रसार — पहले काम के बदले काम या अनाज की परम्परा थी। अब हर काम पैसे से किया, कराया जाता है। अत: कुंग्रा खोदने, खेत जुताई, फसल कटाई और ग्रन्न निकालने की प्रक्रिया में नकद व्यय का महत्व बढ़ गया है।

(घ) योजनायें — सरकार की विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत कृषि विकास के लिए आर्थिक मदद की जाने लगी है। इस कारण सहयोग से काम पूरा करने की व्यवस्था कमजोर होने लगी है। सरकारी योजनाओं ने भी इस प्रवृत्ति को बढ़ाया है।

ऊपर कुछ कारणों को गिनाया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि ल्हास की परम्परा के समाप्त होने के कोई एक कारण नहीं हैं। वह तो अनेक कारणों का परिणाम है। सारी सामाजिक-आर्थिक दिशा ऐसी है कि परम्परागत व्यवस्था टूट रही है। हमने इस व्यवस्था को कायम रखने का प्रयास भी नहीं किया, इस कारण परिवर्तन के प्रभाव में यह व्यवस्था टूटना स्वाभाविक था।

चौथ या लांगरी

जयपुर, अलवर एवं भरतपुर सभी क्षेत्रों में किसान आपसी सहयोग से सिंचाई कार्य करते पाये गये। सिसनी के कृपकों ने इस व्यवस्था की परम्परा को स्पष्ट करते हुए कहा, 'यह हमारी पुरानी व्यवस्था है। आज से 10–15 वर्ष पूर्व तक यह आम बात थी लेकिन कुंओं पर बिजली लगने तथा डीजल इंजिन से पानी निकालने की सुविधा ने चौथ या लांगरी को कम किया है।' सिसनी एवं तसीमों के कृपकों ने बताया कि एक समय था जब सिंचाई का कार्य लाव-चड़स से ही होता था। हम अपने खेतों को अकेले नहीं पानी दे पाते थे। कई किसान मिलकर एक-दूसरे के सहयोग से खेतों में पानी देते थे। यह कार्य पूर्णतया आपसी सहकार की भावना पर निर्भर था। इसमें किसी प्रकार का आर्थिक लेन-देन नहीं था। हम अपना-अपना बैल, चरस लाते थे और बारी-बारी से खेतों में पानी देते थे। इसके कई लाभ थे, जैसे एक खेत में ज्यादा मात्रा में पानी जाने से सिंचाई जल्दी होती, पानी बेकार नहीं जाता, कार्य में सुविधा रहती। एक बड़ा लाभ यह होता कि सिंचाई में 3–4 व्यक्ति चाहिये—बैल हांकने वाला, चरस गिराने वाला, खेत में सिंचाई करने वाला आदि 'वह सहज में मिल जाता।' बहादुरपुर, थून आदि गाँवों के कृपकों ने यह बात भी कही कि यदि किसी के पास साधन नहीं हैं तो कई बार उसके खेत की भी सिंचाई कर दी जाती है, लेकिन यह सहयोग की भावना एवं आपसी सम्बन्ध पर निर्भर करता है। सिंचाई के सहयोग में एक रूप यह भी देखा गया कि यदि बैल-चड़स एवं कुंआ खाली है तो ऐसा किसान, जिसके पास उक्त साधन नहीं है, या कम है, मांग कर काम चला लेता था। इसके बदले उसे कुछ नहीं देना पड़ता था।

पिछले दो दशकों में यह व्यवस्था काफी कम हुई है। इसके कई कारण हैं—

1. सिंचाई के साधनों में परिवर्तन — इंजिन एवं पम्प से पानी निकालने के कारण दूसरों के सहयोग की आवश्यकता कम हो

गई है। अब व्यक्तिगत स्तर पर सिंचाई कर लेना लाभकर दिखाई देता है।

2. सिंचाई हेतु पानी बेचने की परम्परा कायम होती जा रही है।
3. व्यक्तिवादी भावना के विकास के कारण परम्परागत चौथ या लांगरी की व्यवस्था धीरे-धीरे घटती जा रही है। जयपुर के कानोता एवं हीरावाला क्षेत्र में यह व्यवस्था प्रायः समाप्त है, लेकिन सिसनी, बहादुरपुर, तसीमों जैसे गाँवों में आज से 25-30 वर्ष पूर्व की तुलना में आज भी 10 से 15 प्रतिशत तक कार्य इस प्रणाली द्वारा होता हुआ देखा जा सकता है। जो किसान लाव, चरस से सिंचाई करते हैं, वे इस पद्धति से अभी भी काम करना चाहते हैं।

सांपा

पशु पालन में सांपा की व्यवस्था में परिवर्तन के मुख्य दो कारण देखने में आये (1) चारागाह क्षेत्र कम होने के कारण इस परम्परा का कम होना (2) अपने-अपने पशुओं की स्वयं चराई की प्रवृत्ति का विकसित होना। कृषि क्षेत्र के विस्तार ने चारागाहों का क्षेत्र घटा दिया है। दुग्ध-विक्रय की संगठित व्यवस्था के फलस्वरूप अपने स्थान पर पशुओं को रखने की प्रवृत्ति भी धीरे-धीरे बढ़ रही है। फिर भी एक सीमा तक सांपा की व्यवस्था कायम है। विभिन्न क्षेत्रों में इसके स्वरूप में परिवर्तन पाया गया। राज्य के रेगिस्तानी क्षेत्र में यह व्यवस्था आज भी कायम है। सर्वेक्षित गाँवों में तसीमों में यह व्यवस्था पाई गई। बहादुरपुर, सिसनी मे आज से 20 वर्ष की तुलना में अब 15 से 20 प्रतिशत अंश तक ही यह व्यवस्था कायम है। प्रायः सभी सर्वेक्षित क्षेत्रों में यह पाया गया कि एक चरवाहा अनेक घरों के पशु चराता है। उसे प्रत्येक घर से मासिक कुछ रकम मिलती है। सामान्यतः प्रति पशु मासिक 2 से 5 रुपये मिलता है। चरवाहे की जिम्मेदारी होती है कि वह जहां से पशु ले जाता है वहीं शाम को वापस पहुंचा दे तथा पशुओं को खड़ी फसल में चरने से रोके। देखा यह जाता है कि मजदूर श्रेणी के परिवारों के बच्चे इस कार्य को करते हैं, लेकिन अधिक उम्र के चरवाहे भी पाये गये। आज से 15--20 वर्ष पूर्व चरवाहे को अनाज, के रूप में पारिश्रमिक मिलता था। सामान्यतः एक पशु पर मासिक 2--3 किलो (तव सेर) अनाज मिलता था। तुलना करने पर पाया गया कि अनाज में चरवाहे को फायदा था।

सांड

सांड की सामूहिक देखभाल की व्यवस्था में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है। आज के कुछ वर्ष पूर्व (करीब 10--15 वर्ष पूर्व) तक प्रायः सभी गाँवों

में सांड उपलब्ध थे। लेकिन अब वह स्थिति नहीं है। कई गाँवों में तो पंचायत समिति से प्राप्त सांड को पालने में भी कठिनाई आती है। सर्वेक्षित गाँवों में पाया गया कि सांड पालन में सामूहिक जिम्मेदारी का अभाव है। पहले सांड सभी के खेत में खुला चरता था, अब लोग ऐसा नहीं करने देते। नई व्यवस्था में ग्राम पंचायतों ने इस कार्य को अपने हाथ में ले रखा है। जहां की गाँव पंचायत सक्षम है, वहां यह व्यवस्था अच्छी तरह चल रही है। तसीमों, सिसनी एवं बहादुरपुर में आज भी सांड हैं जिनकी जिन्दगी गाँव के लोगों के सहयोग से चल रही है लेकिन यह आम राय है कि यह व्यवस्था भी धीरे-धीरे समाप्त हो रही है।

पेशेवर जाति समूह और परम्परागत सहकारिता

परम्परागत व्यवस्था में पेशेवर जाति समूहों और किसान के बीच विभिन्न कार्यों के बदले अनाज के स्थान पर मुद्रा का व्यवहार भी बढ़ा है। 30-40 वर्ष पूर्व काम के बदले अनाज तथा मुद्रा दोनों प्रकार का लेन-देन था। उदाहरण के लिए खाती लकड़ी का काम करता था इसके बदले कुछ स्थाई कार्यों के लिए तो उत्पादन में हिस्सा मिलता था (जैसे-कृषि यन्त्र बनाना एवं मरम्मत के लिए) तथा कुछ कार्यों के लिए नकद भुगतान की व्यवस्था थी—जैसे खिड़की, दरवाजे एवं फर्नीचर बनाना आदि। सर्वेक्षित गाँवों में खाती, लुहार, कुम्हार, नाई, धोबी, चमार आदि पेशेवर सेवा करने वाली जातियां हैं। इनका सम्बन्ध किसानों से रहता है। इन्हें कार्य में सहयोग के लिए कितना मिलता है, इस बारे में जानकारी प्राप्त की गई। परम्परागत व्यवस्था में प्राय: सभी जगह मिलने वाले अनाज की मात्रा एक-सी पाई गई–नियम भी एक जैसा पाया गया। परम्परागत तथा स्थाई सेवाओं के बदले मिलने वाले प्रतिफल की मात्रा का निर्धारण निम्न आधारों पर होता पाया गया—

(1) किसान के पास कितने जोड़ी बैल है—यह पाया गया कि जिसके पास जितनी जोड़ी बैल या हल हैं, उसी अनुपात में उसे उत्पादन में हिस्सा देना पड़ता है। जहां ऊंट से खेती होती है, वहां हल की संख्या के अनुसार निर्धारण होता है। यह उल्लेखनीय है कि किसान भूमि की मात्रा के अनुसार हल, बैल रखता है। किस खेत में कितने हल चल रहे हैं, उसे देखकर किसान की हैसियत का अंदाजा लग जाता है। पूछने की आवश्यकता नहीं होती।

(2) सेवा के प्रकार—सेवाओं के बदले मिलने वाला हिस्सा सेवा के प्रकार पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए नाई, धोबी, भंगी मोची को मिलने वाला हिस्सा स्थानीय परम्परा पर निर्भर होता है। यह किसान के मानस तथा उसकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है।

खाती को मिलने वाला हिस्सा को कई जगह "लाग" कहा जाता है। कई जगह वह हल जोड़ी की संख्या के अनुपात में उत्पादन का हिस्सा लेता है।

सिसनी तथा अन्य गांवों में प्रति हल पर दो फसल में 40 किलो अनाज मिल जाता है। सिसनी में कुम्हार को भी 20 किलो अनाज मिलता पाया गया। लेकिन लुहार का काम कम होने से उसे कम अनाज मिलता है। इसे प्रति जोड़ी 15--20 किलो मिलता पाया गया।

चमार को आमतौर पर काम के अनुसार अनाज मिलता पाया गया। चड़स वनाने या मरे पशु उठाते समय किसान परम्परा के अनुसार अनाज या रुपये देता है। मृत पशु उठाने पर 10–15 किलो तथा चड़स मरम्मत आदि के वदले 15–20 किलो अनाज मिलता पाया गया लेकिन अब चड़स वनाने वाले चड़स की कीमत मुद्रा के रूप में लेते हैं और किसान खाल भी पैसा देकर खरीद लेते हैं।

सामाजिक संस्कारों में नाई का विशेष महत्त्व रहता है। सिसनी तसीमों तथा वहादुरपुर में नाई को प्रति फसल 20 किलो (एक जोड़ी वैल होने पर) मिलता पाया गया। विवाह आदि के समय कपड़े तथा अन्य इनाम भी दिये जाते हैं। वाल वनाने पर रोटी या अनाज या दोनों मिलते पाये गये।

भंगी इनमें सबसे अधिक उपेक्षित है। परम्परागत व्यवस्था में उसे मात्र वासी रोटी मिलती थी। वर्तमान में ग्राम पंचायत की ओर से आंशिक पारिश्रमिक की व्यवस्था भी है। कुछ घरों से सफाई के वदले एक-दो रुपया मासिक भी मिलता पाया गया।

यहां यह उल्लेखनीय है कि खाती, लुहार, कुम्हार आदि जातियां एक या दो गांवों में निश्चित किसान परिवारों से 'जजमान' के रूप में जुड़े रहते हैं। यह पाया गया कि अधिक आवादी वाले गांवों में सामान्यतः एक परिवार 30 से 40 परिवारों के साथ जुड़ा रहता है। लेकिन यह संख्या गांव में किसान तथा सेवा करने वाले परिवारों की संख्या पर निर्भर करती है। सर्वेक्षित गांवों में विभिन्न जातियों की 'जजमानी' के रूप में जुड़े परिवारों की स्थिति इस प्रकार पाई गई :—

सारणी संख्या 3 : 2

पेशेवर जाति वर्ग में सहयोग का स्वरूप[8]

एक दस्तकार से सम्वद्ध कृषक परिवारों की संख्या

दस्तकारी	जयपुर	अलवर	भरतपुर
1	2	3	4
1. खाती	30–40	25–35	30–35
2. लुहार	60–80	50–70	50–60
3. कुम्हार	20–30	25–35	30–40
4. नाई	40–50	30–40	35–45

वदलती परिस्थिति के वारे में कई वातें सामने आई—

(क) अव किसान पेशेवर जाति वर्ग के परिवारों से स्थाई रूप में नहीं जुड़ना चाहता। अतः ऐसे परिवारों की संख्या वढ़ती जा रही है जिनके खास खाती, नाई आदि नहीं हैं। वे किसी से भी पैसा देकर काम करा लेते हैं।

(ख) इसी प्रकार पेशेवर जातियां भी अन्य धन्धों में प्रवृत्त हो जाती हैं या गांव से वाहर काम करने के कारण पुरानी परम्परा से कम जुड़ी रह पाती हैं।

(ग) किसी दस्तकार परिवार से जुड़ने वाले किसानों की संख्या घटती-वढ़ती रहती है।

(घ) परिवार को 'जजमानी' में मिलने वाला अनाज मोटे रूप में एक हल-वैल रखने वाले किसान से दो फसल में 40 किलो अनाज तक प्राप्त हो जाता है। अतः यदि कोई खाती ऐसे 30–40 किसानों से जुड़ा है तो उसे वर्ष में 12 से 15 क्विटल अनाज मिल जाता है। लेकिन यह नियम सभी जगह लागू नहीं होता। जहां जजमानी प्रथा पूर्णरूप से प्रचलन में है, वहीं यह स्थिति है। सर्वेक्षित गांवों में से सिसनी में यह प्रथा सवसे मजवूत पाई गई जहां नाई, खाती आदि को पूरा हिस्सा मिलता है। लेकिन यहां भी सभी किसान इससे नहीं जुड़े हैं क्योंकि पिछले 8–10 वर्षों में ट्रैक्टर आ जाने के कारण खाती, लुहार का काम काफी कम हो गया है। मोटे अनुमान के अनुसार आज से 15–20 वर्ष के पूर्व की तुलना में भरतपुर के सुदूर गांवों में 50 से 75 प्रतिशत, अलवर में 40 से 50 एवं जयपुर के गांवों में 45 से 50 प्रतिशत जजमानी प्रथा रह पाई है।

अन्य कार्यों में सहकार

सामाजिक-आर्थिक जीवन के विविध कार्यों में परम्परागत सहकार को मोटेतौर पर तीन वर्गों में वांटा गया है—

(क) आर्थिक कार्य, जैसे—मकान निर्माण; कुए का निर्माण एवं पानी निकालना, खेत जुताई, फसल कटाई आदि।

(ख) दैनिक उपभोग में सहकार— भोज्य पदार्थ, यातायात आदि।

(ग) सामाजिक एवं धार्मिक कार्य —जैसा कि ऊपर कहा गया है मकान वनाने में छप्पर उठाना, पट्टी चढ़ाना, ईंट भट्टा लगाना आदि कार्यों में आपसी सहयोग की परम्परा है।

सर्वेक्षित गांवों में यह स्वीकार किया गया कि छत पर पट्टी चढ़ाने, छप्पर उठाने में अतिरिक्त मजदूर लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वताया

गया कि आज से 20–25 वर्ष पूर्व गांव में किसी के यहां ईंट का भट्टा लगता था तो पूरा गांव खुशी से इसमें मदद करता था। ईंट बनाने तथा भट्टे तक ईंट लाने का काम मजदूर करते थे लेकिन भट्टा लगाने का बड़ा काम गांव के लोग आपस में मिलकर करते थे। यह कार्य गर्मियों में किया जाता था जबकि खेती से फुरसत रहती थी। जितने दिन ईंट भट्टा लगने का काम चलता, गांव में हलचल बढ़ जाती—बच्चों को देखने तथा पास में खेलने में मजा आता, इस कार्य में निपुण लोग कार्य को संभालते जबकि नये लोग भट्टा लगाना सीखते थे। बच्चों का एक आकर्षण प्रसाद रहता था, क्योंकि जिस दिन यह काम पूरा होता, उस दिन प्रसाद बंटता था। आज यह माहोल अतीत की चीज हो गया है।

दूसरा उदाहरण नदी-नालों पर बांध बांधने का है। बरसात के दिनों में खेती के लिए नालों पर बांध बांधने की परम्परा चली आ रही है। दो–तीन गांवों के लोग मिलकर सिचाई के लिए नाले को बांध देते हैं। ताकि वर्षा का पानी एकत्रित हो जाय और सिचाई के काम आये। व्यवस्था यह होती कि प्रत्येक परिवार से एक व्यक्ति या तो स्वयं काम करेगा या मजदूर भेजेगा। बांधने के काम में आने वाली चीजें जैसे—पुआल, रस्सी आदि प्रत्येक किसान स्वेच्छा से देता। कुछ मजदूर भी लगते है। जितने दिन यह कार्य चलता, मेला सा लगा रहता है। लेकिन अब व्यक्तिवादी भावना घर कर जाने के कारण यह कार्य कम हो गया है। यदि बांध बांधने की लागत जोड़ी जाय तो एक बार बांधने पर करीब 1.50 लाख रुपये खर्च होगा। बांध मिट्टी का होता है, अतः पानी का दबाव बढ़ने पर टूट भी जाता है। इसलिए प्रायः यह कार्य हर साल चलता रहता है।

सर्वेक्षित गांवों में सामाजिक एवं अन्य कार्यों में आपसी सहकार की वर्तमान स्थिति का नाप-जोख करने का प्रयास किया गया। यह एक अनुमान है जिसे नीचे की सारणी में देख सकते हैं :

सारणी संख्या 3 : 3

सामाजिक कार्यों में सहकार की मौजूदा स्थिति का अनुमान

कार्य	20–25 वर्ष पूर्व की तुलना में आज सहयोग की स्थिति का प्रतिशत		
	जयपुर	अलवर	भरतपुर
1	2	3	4
1. मकान निर्माण	50–70	60–70	60–80

1		2	3	4
	(क) पट्टी एवं छप्पर वढ़ाना			
	(ख) ईंट भट्टा लगाना			
2.	पेयी-पानी	20–25	15-20	10–15
3.	दैनिक उपभोग की वस्तुएं नगरों से गांव में लाना	10-15	15–20	10–15
4.	यातायात साधनों का प्रयोग	40–50	45–50	50–60
5.	विवाह			
	1. आतिथ्य	10–15	10-15	30–40
	2. साधन प्रदान करना	20–30	25–35	30–40
	3. अन्य सहयोग	15-20	20–25	25–30
6.	मृत्यु			
	1. आर्थिक मदद	15-20	20–25	30-40
	2. अन्य	10-15	15–20	20–30
7.	धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्य			
	1. मंदिर-धर्मशाला निर्माण	40–50	50-60	50-60
	2. भजन-सत्संग आयोजन	20–25	50–60	50–60
	3. त्योहार	60–80	70–80	70–80

उक्त सारणी से स्पष्ट है कि सामाजिक सहयोग के संदर्भ में परम्परागत व्यवस्था काफी कम हो गई है। फिर भी कई कार्यों में आज भी काफी हद तक सहकार की भावना है। सिसनी, तसीमों में यह भी परम्परा पाई गई कि यदि मृतक के परिवार में काम संभालने वाले नौजवान नहीं हैं तो गाँव के लोग कृषि कार्य में मदद कर देते हैं। इसी प्रकार विवाह कृषि कार्य में मदद कर देते हैं। भरतपुर क्षेत्र के गाँवों में, खासकर जाट प्रधान क्षेत्रों में विवाह में जिस प्रकार का सहयोग पाया गया, उसका विवरण देना उपयोगी रहेगा। यहां विवाह की विभिन्न प्रक्रियाओं में निम्नलिखित व्यवस्था पाई गई—

(क) निर्णय—विवाह सम्बन्ध तय करने में परिवारजन, नाते-रिश्तेदार तथा गाँव के मुखिया लोग महत्वपूर्ण भूमिका निवाहते हैं।

(ख) लगुन—इस अवसर पर गाँव के लोगों को आमन्त्रित किया जाता है। गाँव के प्रमुख लोग एवं परम्परागत पंच यह तय करते हैं कि लगुन के अवसर पर कितना दिया जाय। आज से 25–30 वर्ष पूर्व तक लगुन में व्यक्ति की क्षमता के अनुसार 10 से 50 रुपये तक दिया जाता

था। आज रकम की मात्रा बढ़ गई है। लगुन के समय गांव के लोग परम्परा एवं आपसी सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए एक से पांच रुपये तक देते हैं।

(ग) विवाह — कन्यादान एवं कन्या की विदाई के अवसर पर भी गांव के लोग उपस्थित होते थे और अपनी इच्छा के अनुसार 1–2 रुपये देते थे।

बदलती परिस्थिति में दहेज का जोर बढ़ गया है और लोग नकद राशि मांगने लगे हैं। ऐसी स्थिति में लेन-देन निर्धारण में पंचों की भूमिका गौण होती जा रही है।

जैसा कि सारणी से स्पष्ट है अन्य कार्यों में भी आपसी सहयोग समाप्त होता जा रहा है। पीने का पानी निकालने में सहयोग विभिन्न क्षेत्रों में एक-सा नहीं है। रेगिस्तानी क्षेत्र में आज भी इस कार्य में सहयोग कायम है लेकिन जयपुर, भरतपुर तथा अलवर में इस ढंग का सहयोग प्रायः नही के बराबर रह गया है। अब व्यक्तिगत प्रयास से ही पानी प्राप्त करते हैं। दैनिक उपभोग की वस्तुएं—छाछ, सब्जी आदि देने का रिवाज भी धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। दूध एवं सब्जी बिक्री की व्यवस्था होने के कारण लोग उपभोग के लिए दूसरों को निःशुल्क दूध, छाछ सब्जी देने में कतराते हैं। यदि किसी परिवार से निकटता हो तब तो देते हैं अन्यथा नहीं। पहले की तरह उपभोग में सहकार नहीं रहा। यातायात के साधनों में सहकार सभी जगह एक जैसा नहीं है। तसीमों, सिसनी, थून में सहकार पाया गया लेकिन जयपुर, अलवर के बहादुरपुर में सहयोग की पहले जैसी भावना नहीं दिखाई दी।

परम्परागत सहकार : ह्रास के कारण—

परम्परागत सहकारिता के ह्रास के कई कारण देखने में आये। यह नहीं माना जाना चाहिये कि किसी एक कारण से इसमें कमी आई है। परम्परागत सहकार की व्यवस्था समाज व्यवस्था के विकास के साथ स्वतः पनपी और विकसित हुई। लेकिन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आया तथा आर्थिक विकास की नई व्यवस्था सामने आई तो पुरानी व्यवस्था स्वतः कमजोर होने लगी। समाजशास्त्र की दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। मुद्रा का उपयोग बढ़ने, कल-कारखानों में वृद्धि होने, नगरीकरण के अधिक व्यापक होने तथा निजी स्वार्थ की वृत्ति अधिक होने के कारण संयुक्त परिवार और ग्राम-सहकार की प्रवृत्ति धीरे-धीरे घटती गई है।

सर्वेक्षण के दौरान यह जानने का प्रयास किया गया कि परम्परागत सहकार की भावना में कमी आने के कारण क्या हैं ? यह बात सबने मानी कि मुद्रा का प्रचलन बढ़ने और नगरीकरण के प्रसार के कारण परम्परागत सहकारिता की व्यवस्था तेजी से कम होती जा रही है। कालक्रम की दृष्टि से उत्तरदाताओं ने जो बातें बताईं उसे ध्यान में रखते हुए पिछले 50 वर्षों में सहकारिता की भावना जो कमी आई, उसे तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं — (1) 1949–50 का समय (2) 1950–65 का समय एवं (3) वर्तमान समय ।[9]

परम्परागत सहकारिता की व्यवस्था में आई कमी को इन वर्षों में बदलती परिस्थिति के संदर्भ में देखा जा सकता है। देश आजाद हुआ और लोकतन्त्री शासन व्यवस्था कायम हुई। इस बीच विज्ञान की नई खोजों तथा औद्योगीकरण का प्रभाव भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में पड़ा। आजादी मिलने के बाद नया उत्साह आया, नई योजनाएं बनीं, नई आकांक्षाओं ने जन्म लिया। सब नया-नया था अत: पुरानी परम्पराओं को धक्का लगना स्वाभाविक था। कालांतर में देश में तेजी से औद्योगिक विकास प्रारम्भ हुआ। यातायात, बिजली, सड़क आदि के विकास ने भी पुरानी मान्यताओं तथा परम्पराओं को तोड़ने में मदद की। सामान्यत: इन क्षेत्रों में 1965 के बाद कृषि क्षेत्र में नये साधनों का प्रयोग बढ़ा। ट्रैक्टर, पम्प, इंजिन, थ्रेसर आदि के उपयोग ने कृषि की पुरानी पद्धति को बाधित किया। वर्तमान समय में यह प्रभाव अधिक व्यापक दिखाई देता है। गांव के लोगों ने इस बात को जोर देकर कहा कि चुनाव, चाहे पंचायत का हो या विधान सभा, संसद का, सभी ने गांव को, गांव के लोगों के आपसी प्रेम को तोड़ा है। गांव में गुटबन्दी पैदा करने एवं रागद्वेष बढ़ाने में सबसे अधिक योगदान चुनाव का है। दूसरी बात यह कही गई कि सरकारी तन्त्र ने तथा यहां तक कि सरकारी योजनाओं ने भी आपसी सहकार को कम करने में योगदान दिया है। गांव के लोगों ने स्पष्ट तौर पर कहा कि कारण चाहे जो भी हों, सरकारी कर्मचारियों ने हमें भ्रष्ट बनाया है। एक व्यक्ति ने, जो कि अनपढ़ था, पढ़े-लिखे लोगों से ही पूछा—"गांव के लोग अनपढ़ हैं अत: वे दोषी हो सकते हैं लेकिन कर्मचारी तथा आप सब लोग तो पढ़े-लिखे हैं, आप क्यों गलत काम करते हैं ? पढ़े-लिखे लोग ही गलत काम करना सिखाते हैं। हमारे गांव का पढ़ा-लिखा युवक गांव में अधिक फूट डालता है। वह आपसी मेल-जोल में रुकावट डालता है।" सहकार में कमी के कारणों की बात पूछने पर गांव के लोगों ने सूत्र रूप में ये कारण गिनाये—(क) हवा का रुख बदल गया (ख) निजी स्वार्थ जग गया है (ग) जमाना बदल गया (घ) नैतिक पतन हो गया।

परम्परागत सहकारिता में आई कमी के कारणों को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. चुनाव—इसने आपसी राग-द्वेष तथा गुटबन्दी बढ़ाई, इस कारण कार्यों में सहकार कम हुआ।
2. व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना का मजबूत होना।
3. मुद्रा का प्रचलन और विस्तार तथा उसके प्रति मोह बढ़ना।
4. गांव से शहर की ओर लोगों का निष्क्रमण तथा शहरी जीवन में अलग-थलग रहने का अभ्यास। इसके कारण गांव में आने पर भी वही प्रभाव कायम रहता है। नौकरी करने वाले का गांव से लगाव कम हो जाता है।
5. उत्पादन के ऐसे साधनों का उपयोग जिनमें मुद्रा की प्रधानता रहती है।
6. नैतिकता का ह्रास।
7. व्यापक औद्योगीकरण यंत्रीकरण। परम्परागत दस्तकारी का ह्रास या आय कम होने तथा काम नहीं मिलने के कारण धीरे-धीरे इनका कार्य कम होता गया। किसानों द्वारा भी दस्तकारों और पेशेवर सेवा करने वालों से परम्परागत सहकार कम कर दिया गया है।

परम्परागत सहकार में शोषण

परम्परागत सहकार में शोषण का अंश भी रहा है। जातीय संकीर्णता ने इस शोषण को बढ़ाया। सामाजिक व्यवहार में शोषण अधिक था। जातीय आधार पर ऊंच-नीच, छूआछूत इस शोषण का सबसे विकृत रूप रहा है जिसमें अछूत की परछाई से भी परहेज किया गया है। इसे भारतीय समाज का कलंक कहा जा सकता है। इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया—'जिसे हम परम्परागत सहकार कहते हैं उसमें शोषण के तत्व भी देखे जा सकते हैं। परम्परागत सहकारिता स्वत: विकसित हुई है। उसमें बनावटीपन नहीं है। अत: इसमें भोक्ता एवं भागीदार को शोषण का भान नहीं होता है। परम्परागत व्यवस्था में हरिजन शोषित है लेकिन कुछ समय पूर्व तक उसे शोषण का भान नहीं था। वह समाज से इस रूप में जुड़ा था कि उससे अलग अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता था।'[10]

बदलती परिस्थितियों ने शोषण का भान कराया। इस अनुभूति ने भी परम्परागत सहकार को कमजोर किया है। खासकर अस्पृश्य एवं दस्तकार जातियां यह महसूस करने लगीं कि हमारा शोषण हो रहा है। यह शोषण मात्र आर्थिक नहीं बल्कि सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक भी है। अत: इस समुदाय ने परम्परागत सहकार की व्यवस्था से मुक्त होने का प्रयास प्रारम्भ किया। इस प्रयास में परम्परागत धन्धा छोड़ना शामिल है, जैसे—मृत पशु

उठाने का काम वन्द करना, चमड़े का काम वन्द करना आदि। दस्तकार जातियां भी अन्य धन्धों—नौकरियों में लगना चाहती हैं। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिकरण करना और अपने को उच्च जाति का घोषित करने का प्रयास भी किया जाने लगा। इन परिवर्तनों ने परम्परागत सहकार को कमजोर किया।

संदर्भ

1. श्री अरविन्द : फाउन्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर, पृष्ठ 391–92.
2. महाभारत—सभापर्व 5, 77.
3. आर. के. मुखर्जी, लोकल गवर्नमेंट इन एनसियंट इण्डिया, पृष्ठ 155.
4. साउथ इण्डियन इन्स्क्रपशन्स (एस. 1, 1) पार्ट 3, 1909.
5. एम. एल. डार्लिंग, रस्टिक्स लोक्यूइटर, 1930, पृष्ठ 17, 53.
6. उपरोक्त, पृष्ठ 319.
7. चर्चा के आधार पर लगाया गया अनुमान।
8. सर्वेक्षण में प्राप्त जानकारी के आधार पर लगाया गया अनुमान।
9. कालक्रम को उक्त वर्षों (1949–50 एवं 1960–65) में विभाजन सर्वेक्षण में प्राप्त जानकारी के आधार पर किया गया है। इन क्षेत्रों में 1960 के वाद विजली, कृषि के नये साधन आये। इस कारण उसके वाद आये परिवर्तन को अधिक स्पष्टता से आंका गया।
10. इस पक्ष के लिए देखें, परम्परागत सहकारिता : प्रतिक्रिया एवं अनुभव सम्वन्धी परिशिष्ट।

4

कानूनी सहकारिता और उसकी दिशा

1. योरप में कानूनी सहकारिता का प्रारम्भ उपभोग एवं उत्पादन में आ रही कठिनाइयों को दूर करने के लिए किया गया। योरप में विकसित इस वृक्ष को अंग्रेजी राज ने भारत में लगाने का प्रयास किया। भारत में सहकारिता रूपी इस विदेशी पौधे को लगाने के पीछे मुख्य भावना साम्राज्यवादी तत्वों को मजबूत करना तथा विकसित करना था। इसके पीछे एक भावना यह भी निहित थी कि इससे भारत में सदियों से चली आ रही परम्परागत सहकारिता समाप्त हो और उसके स्थान पर सहकारिता का यह पौधा फूले-फले। कानूनी सहकारिता के मूल आधार औद्योगीकरण, शहरीकरण एवं व्यक्तिवादी मनोवृत्ति है। स्वाधीन भारत में भी उसी मूल को स्वीकार कर लागू करने का प्रयास जारी रहा जबकि उचित यह होता कि यहां की परम्परागत सहकारिता का अध्ययन किया जाता और समझबूझकर यहां की समाज-रचना के अनुरूप कानूनी सहकारिता की कलम उस पर चढ़ाई जाती। इसके विपरीत पश्चिमीकरण की अन्य बातों की तरह अंग्रेजों के जमाने की कानूनी सहकारिता को भी भारत के अनुकूल मान लिया गया। सहकारिता सम्बन्धी जो कानून उन्नीसवीं सदी के अन्त एवं बीसवीं सदी के प्रारम्भ में बने थे उन्हीं को आधार मानकर इसे आगे बढ़ाया गया। इस बात का विचार ही नहीं किया गया कि स्वाधीन और लोकतांत्रिक भारत में सहकारिता के उद्देश्यों और स्वरूप पर मूलगामी रूप से विचार करना और इसे इस देश की जनता की परम्परा तथा प्रकृति के अनुरूप बनाना आवश्यक है। कानूनी सहकारिता के विकास के लिए बने कानूनों को सभी राज्यों में फैलाने के लिए राज्य स्तर पर कानून बने। इनकी आवश्यकता इस कारण भी पड़ी क्योंकि संविधान में सहकारिता को राज्य के कार्यक्षेत्र में माना गया है। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश

साम्राज्य के परिपेक्ष में फूली-फली सहकारिता को आगे वढ़ाने के लिए राष्ट्रीय विकास परिषद् (एन.डी.सी.), योजना आयोग तथा राज्य-सरकारें प्रत्यनशील रही हैं ।[1]

इस अध्याय में स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद इस विषय में सरकार द्वारा किये गये विचार-विमर्श तथा इस कार्य को आगे वढ़ाने के लिये किये प्रयासों का सार दिया जा रहा है। इसके साथ-साथ राजस्थान में कानूनी सहकारिता की उन्नति की दिशा में किये जा रहे प्रयास तथा विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों के कार्य की प्रगति का संक्षिप्त चित्र भी प्रस्तुत किया गया है। यह विवरण राज्य सहकारिता विभाग द्वारा प्रकाशित विवरण पर आधारित है।

2. राष्ट्रीय विकास परिषद् (एन.डी.सी.) ने 1958 में सहकारिता के कुछ मुद्दों को इस प्रकार प्रस्तुत किया था ।[2]

(क) सहकारिता की प्राथमिक इकाई गांव को माना जाना चाहिए। इसके साथ-साथ इस वात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि इसका कार्य गांव के सभी सामाजिक-आर्थिक समुदायों के पारस्परिक सहयोग से पूरा हो। जो गांव वहुत छोटे हों वहां छोटे-छोटे गांवो को मिलाकर भी एक समिति वनाई जा सकती है। सामान्यतः इस स्थिति में 1000 जनसंख्या की सीमा मानी जा सकती है।

(ख) प्राथमिक स्तर पर वनी सहकारी समितियों को मार्गदर्शन एवं सहायता दी जाय लेकिन मुख्य वात यह होनी चाहिए कि समिति के सदस्यों में स्वतन्त्र चिंतन एवं स्वयं की शक्ति तथा भागीदारी से विकास कार्यो को हाथ में लेने की क्षमता का विकास हो।

(ग) यह लक्ष्य होना चाहिए कि गांव का प्रत्येक परिवार इसका सक्रिय सदस्य वने।

(घ) ग्राम-स्तर की सहकारी समिति सहकारी संघ से संवद्ध हो।

(ङ) सहकारी समिति में गतिशीलता कायम रखने के लिए आवश्यक है कि इसके कर्मचारी सरकारी वेतन के वजाय मानद रूप में कार्य करने वाले हों—इनकी संख्या क्रमशः वढ़े।

(च) सहकारिता सम्बन्धी नियम उपनियम एवं कार्य प्रक्रिया सरल होनी चाहिए ताकि वह सामान्यजन को स्वीकार्य हो।

सहकारिता के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उस पर राज्य का हस्तक्षेप कम से कम रहे और उसका संचालन सदस्यों द्वारा स्वयं किया जाय। इस दृष्टि से सहकारी समितियों में चुने गये प्रतिनिधियों, पदाधिकारियों के प्रशिक्षण एवं शिक्षण की सम्यक् व्यवस्था किया जाना आवश्यक है। 1959 में

राज्यों के सहकारिता मंत्रियों एवं रजिस्ट्रार सहकारिता की बैठक में इस बात पर जोर दिया गया। यह भी निर्णय लिया गया कि सहकारी समितियों में पदाधिकारियों का चुनाव शीघ्र एवं नियमित रूप से किया जाना चाहिए। इस बैठक में यह भी निश्चय किया गया कि प्राथमिक स्तर की सहकारी समितियों के साथ-साथ क्षेत्र एवं जिला स्तर पर सहकारी संघों (Unions) की स्थापना की जाय ताकि प्राथमिक स्तर की समितियों को बल मिल सके।

सहकारी समितियों के सही ढंग से संचालन के लिए सहकारी अधिकारियों की नियुक्ति करने की व्यवस्था की गई। जिन समितियों तथा संघों का कार्य सुचारू रूप से नहीं चलता या अनियमित हो, वहां प्रशासक नियुक्त की व्यवस्था भी की गई। 1970 में राष्ट्रीय स्तर पर सहकारिता मन्त्रियों की बैठक में इस बात पर जोर दिया गया कि सहकारी समितियों में सरकारी अधिकारी की नियुक्ति को टालना चाहिए। जहां आवश्यक हो, वहीं पर सरकारी अधिकारी नियुक्त होने चाहिये। नियुक्ति में इस बात का ध्यान रखना उचित होगा कि अधिकारी विषय का जानकार हो।[3]

3. सहकारिता के सिद्धांत एवं व्यवहार को स्पष्ट करने की दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता महसूस की गई। सामान्यजन सहकारिता की पूरी बात को सूत्र रूप में समझ सकें, इस दृष्टि से 1974 में सहकारिता मन्त्रियों के सम्मेलन में विचार किया गया। इस सम्मेलन में सहकारिता के निम्नलिखित तत्व मान्य किये गये।[4]

(1) खुली एवं स्वैच्छिक सदस्यता, (2) लोकतांत्रिक नियन्त्रण (3) सीमित लाभ, (4) लाभ का सम वितरण, (5) सहकार की भावना का प्रशिक्षण (6) सहकार की भावना।

इस बैठक में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई कि सहकारिता में लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा की जानी चाहिए। सरकार का कर्त्तव्य है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम रखने में मदद करे। लेकिन कार्य के सही संचालन के लिए निगरानी भी जरूरी है। यह कार्य राज्य द्वारा हिसाब-किताब की जांच निरीक्षण आदि से किया जाना उचित होगा।

हमें मानना होगा कि सहकारिता के सिद्धान्तों का विवेचन बहुत कुछ उचित और उपयोगी रहा, पर पूरे सहकारी आन्दोलन को ही इन सिद्धान्तों के आधार पर नये सिरे से गठित करने का प्रयास नहीं किया गया। बोतलें भी पुरानी रहीं, शराब भी पुरानी रही और लेबिल भी पुराने ही रहे। राज्य सरकारों ने भी कानून बनाये हैं, पर सहकारिता की पुरानी भावना और कार्य-पद्धति में बहुत परिवर्तन नहीं आया है। इसलिये सहकारी आन्दोलन आज एक

स्थान पर आकर रुक सा गया है, भीतर से खोखला हो गया है, उसकी गति-शीलता और सहयोगी समाज की शक्ति कुण्ठित हो गई है।

राजस्थान में सहकारी समितियां

राजस्थान में विभिन्न प्रकार की सहकारी संस्थाओं की वर्तमान स्थिति इस प्रकार है।[5]

सारणी संख्या 4 : 1

राजस्थान की सहकारी संस्थायें

(1980–81)

स. संस्थाएं	संख्या
1	2
1. केन्द्रीय सहकारी बैंक	25 (265 शाखाएं)
2. भूमि विकास सहकारी बैंक	35 (87 शाखाएं)
3. प्राथमिक कृषि शाखा सह. समितियां	5205
4. गैर कृषि साख स.स.	952
5. अनाज बैंक	3
6. प्राथमिक क्रय-विक्रय सहकारी समितियां	147
7. कृषि प्रशोधन स. स.	43
8. दुग्ध संघ	13
9. दुग्ध उत्पादक स. समितियां	2164
10. मुर्गी पालन सह. समितियां	17
11. भेड़-ऊन पालन सह. समितियां	574
12. सहकारी चीनी मिल	2
13. कृषि सहकारी समिति	338
14. सिचाई सह. समितियां	20
15. मत्स्य पालन सह. समितियां	56
16. भंडारण सह. समितियां	25
17. प्राथमिक भंडारण सह. समितियां	685
18. भवन निर्माण सहकारी समिति	1562
19. बुनकर सहकारी समिति	447
20. उद्योग सहकारी समिति	1296
21. कताई मिलें	3
22. श्रमिक ठेका सहकारी समिति	871

1	2
23. वन श्रमिक सहकारी समिति	78
24. यातायात सहकारी समिति	66
25. औद्योगिक क्षेत्र	1
26. विद्युत सहकारी समिति	1
27. निरीक्षण संघ	16
28. जिला सहकारी संस्थान	26
29. गैर कृषि और गैर साख सहकारी समिति	226
30. एपेक्स स. समिति	16
योग	18122

उपरोक्त सारणी के अनुसार राजस्थान में करीब 30 प्रकार की सहकारी संस्थाएं कार्यरत हैं। इन संस्थाओं को कार्य की प्रकृति एवं संगठनात्मक स्वरूप की दृष्टि से निम्न मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

1. प्राथमिक सहकारी समितियां।
2. सहकारी संघ।
3. सहकारी मिलें।
4. एपेक्स बैंक।

राज्य में विस्तार की जो स्थिति है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रामस्तर पर स्थापित प्राथमिक सहकारी समितियों में कृषि साख सहकारी समितियां, जिसे ग्राम सेवा सहकारी समिति के नाम से जाना जाता है, का विस्तार व्यापक स्तर पर है। इसके अतिरिक्त हाल के वर्षों में दुग्ध उत्पादक सहकारी समितियों का विस्तार तेजी से हो रहा है। दोनों प्रकार की सहकारी समितियां ग्रामीण जीवन को व्यापक स्तर पर प्रभावित करती हैं। राज्य के सहकारी विभाग का यह प्रयास रहा है कि ग्राम सेवा सहकारी समिति से सभी गांव जुड़ें। इसी बात को ध्यान में रखकर सभी गांवों को किसी न किसी ग्राम सेवा सहकारी समिति से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है। राज्य सरकार से प्राप्त जानकारी के अनुसार 30 जून, 1981 तक राज्य के 99 प्रतिशत गांवों को सहकारिता आन्दोलन में शामिल किया जा चुका था।[6]

लाभान्वित

सहकारी संस्थाओं में सबसे अधिक विस्तार कृषि साख सहकारी समितियों का है। राज्य सरकार इनके माध्यमसे कृषकों को कर्ज एवं अन्य

सुविधाएं देने का प्रयास कर रही है। वर्ष 1980–81 में प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों की जो स्थिति थी उसे नीचे की सारणी में देखा जा सकता है :

सारणी संख्या 4 : 2

प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियां[7] 1980–81

विवरण	संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. कुल संख्या	5,205	
2. वन्द समितियां	139	
3. वन्द समितियों की कुल संख्या का प्रतिशत	—	2.67
4. कुल सदस्य संख्या	33,90,695	100.00
5. अ. जा. की सदस्य संख्या	6,93,818	20.46
6. अ. ज. जा. (एस. टी.)	5,43,954	16.04
7. अन्य जातियां	21,52,935	63.50
8. लाभान्वित सदस्य	12,80,000	
9. कुल सदस्यों में लाभान्वितों का प्रतिशत	—	38 00
10. अ. जा. की कुल संख्या में से लाभान्वित सदस्य	3,26,267	47.02
11. अ. ज. जा. की कुल सदस्य में से लाभान्वित सदस्य	2,01,156	36.98
12. अन्य जातियों की कुल सदस्य संख्या में से लाभान्वित सदस्य का प्रतिशत	—	34.00
13. लाभान्वित परिवार (देहाती क्षेत्र के कुल परिवारों की संख्या का प्रतिशत)		25.00 अनुमानित

कर्ज के उद्देश्य

प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियां ग्रामीण रोजगार को आर्थिक मदद पहुंचाने की दृष्टि से कई प्रकार के कार्यों में मदद देती हैं। ये समितियां (क) अल्पकालीन, (ख) मध्यकालीन और (ग) दीर्घकालीन कर्ज की सुविधा प्रदान करती हैं। विभिन्न कार्यों के लिये दिये गयें कर्ज का विश्लेपरण इस प्रकार है :—

सारणी संख्या 4 : 3

प्रा. कृ. स. स. : कर्ज का विश्लेपण 1980-81

मद	कर्ज की रकम लाख में (रु.)	प्रतिशत (क) प्र.	प्रतिशत (क,ख,ग)
1	2	3	4
(क) अल्पकालीन ऋण			
1. मौसमी कर्ज (वीज, खाद आदि हेतु)	5258.27	71.58	50.06
2. कृपि साधन खरीद	2085.61	28.39	19.85
3. खाद्यान्न विपणन	—	—	—
4. कृपि उत्पादन प्रशोधन	—	—	—
5. औद्योगिक कार्य	—	—	—
6. उपभोग के लिए कर्ज	0.45	0.01	—
7. अन्य कार्य	1.34	0.02	0.01
योग	7345.72	100.00	69.92
(ख) मध्यकालीन ऋण			
1. कुंआ खुदाई एवं मरम्मत	3.52	0.12	0.03
2. पम्प एवं मोटर-सिंचाई हेतु	8.11	0.27	0.08
3. पशु खरीद	1188.65	39.52	11.32
4. भूमि सुधार	—	—	—
5. ऋण का पुर्ननवीनीकरण	1797.50	59.77	17.11
6. अन्य कृपि कार्य हेतु	6.08	0.20	0.06
7. अन्य कार्य	3.69	0.12	0.04
योग	3007.55	100.00	0.04
(ग) दीर्घकालीन कर्ज	151.15	100.00	1.44
कुल योग (क, ख,ग)	10504.42	—	100.00

उपरोक्त सारणी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक साख सहकारी समितियां ग्रामीणों को मुख्यतः अल्पकालीन ऋण की सुविधा प्रदान करती हैं। इससे कृपि की तात्कालिक आवश्यकताएं पूरी होती हैं। अल्पकालीन कर्ज मुख्यतः दो कार्यों के लिए दिया जाता पाया गया :—

(क) बीज-खाद आदि के लिए और
(ख) कृषि साधनों की खरीद के लिए।

मध्यकालीन कर्ज की मुख्य मद पशु खरीद पाई गई। वर्तमान कार्यक्रमों में एकीकृत ग्राम विकास को प्रमुख स्थान दिया जा रहा है। इसके अन्तर्गत दुधारू एवं अन्य पशुओं की खरीद के लिए कर्ज दिया जाता है। इसके अतिरिक्त कुंआ खुदाई एवं मरम्मत, सिंचाई के लिए इन्जिन एवं पम्प सेट आदि खरीदने के लिए भी कर्ज दिया गया।

जोत श्रेणी एवं कर्ज :

प्राथमिक साख सहकारी समितियों के माध्यम से जिन लोगों को लाभ मिला है, उनका भूस्वामित्व की दृष्टि से विश्लेषण किया जा सकता है। वर्ष 1980–81 में सहकारी समितियों द्वारा लाभान्वितों की जोत श्रेणी के अनुसार स्थिति इस प्रकार रही :

सारणी संख्या 4:4

जोत श्रेणी एवं लाभान्वित परिवार

अल्पकालीन ऋण

जोत श्रेणी	लाभान्वित परिवार	रकम लाख रु. में	प्रतिशत
1	2	3	4
1. एक हैक्टर तक	239025	663	9 03
2. 1 से 2 हैक्टर	248863	1482	20.17
3. 2 से 4 हैक्टर	210203	1824	24.83
4. 4 से 8 हैक्टर	199719	1887	25.69
5. 8 हैक्टर से अधिक	131514	1456	19.82
6. बटाई कृषक	1540	12	0.16
7. कृषि श्रमिक	1667	13	0.18
8. अन्य	1220	9	0.12
योग	1033751	7346	100.00
मध्यकालीन ऋण[9]			
1. 1 हैक्टर तक	45477	324	10.77
2. 1 से 2 हैक्टर तक	50946	511	16.99
3. 2 से 4 हैक्टर तक	48151	568	18.88
4. 4 से 8 हैक्टर तक	41362	786	26.13

1	2	3	4
5. 8 हैक्टर से अधिक	50954	669	22 24
6. बटाई पर कृषि	383	19	0.63
7. कृषि श्रमिक	5723	126	4.19
8. अन्य	596	5	0.17
योग	243592	3008	100.00

बुनकर सहकारी समिति

वस्त्रं द्योग देश का सबसे पुराना परम्परागत उद्योग है। आज भी गाँव-गाँव में वस्त्र बुनाई का काम जानने वाले दस्तकार मौजूद हैं। परम्परागत दस्तकारी को गति प्रदान करने की दृष्टि से बुनकरों की सहकारी समिति गठित करने का प्रयास बड़े पैमाने पर किया गया है। बुनकर सहकारी समिति बनाकर इस कार्य को करें यह अपेक्षा रखी गई। इस व्यवस्था को गति प्रदान करने के लिए राज्य स्तर पर बुनकर संघ की भी स्थापना की गई। इस कार्य में सहकारी विभाग के साथ-साथ उद्योग विभाग, हैण्डलूम बोर्ड आदि ने भी सहयोग किया।

राजस्थान में बुनकर सहकारी समितियों की स्थिति को नीचे की सारणी में देख सकते हैं :—

सारणी संख्या 4 : 5

बुनकर सहकारी समितियां[10] 1980–81

विवरण	संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. कुल सहकारी समितियां	440	100.00
2. बन्द सहकारी समितियां	391	88.86
3. कुल सदस्य संख्या	17245	—
4. लाभ में चल रही समितियां	32	
5. लाभराशि	2.70 लाख रु.	

अन्य औद्योगिक सहकारी समितियां

बुनाई के अतिरिक्त अन्य परम्परागत दस्तकारियों का विकास सहकारिता के आधार पर करने का प्रयास किया गया। लकड़ी का काम, मिट्टी के बरतन बनाना, चर्मशिल्प, लुहारी आदि दस्तकारियों की सहकारी समितियां

वनाई गईं । इन औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थिति नीचे की सारणी में देखी जा सकती है

सारणी संख्या 4 : 6

औद्योगिक सहकारी समितियां[10] 1980–81

विवरण	संख्या । मूल्य	प्रतिशत
1	2	3
1. कुल संख्या	1296	100.00
2. वन्द स. समितियाँ	1173	90.50
3. सदस्य संख्या	29139	—
4. कुल कार्यशील पूंजी (लाख रु.)	307.10	
6. शेयर पूंजी (लाख रु.)	37.23	
6. लाभ कमानेवाली स. समितियाँ	92	
7. लाभ की राशि (लाख रु.)	6.67	

उक्त दोनों सारिणयों से यह स्पष्ट दिशा संकेत मिलता है कि औद्योगिक सहकारी समितियां अपने लक्ष्य पूरा करने में विफल रही हैं । वुनकर एवं अन्य औद्योगिक सहकारी समितियां सफल नहीं हो सकीं । प्राप्त जानकारी के अनुसार 90.50 प्रतिशत औद्योगिक सहकारी समितियां वन्द हैं । यह वहुत गंभीर तथा शोचनीय स्थिति है ।

दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति

राजस्थान में दुग्ध योजना को व्यापक रूप देने का प्रयास किया जा रहा है । इस दृष्टि से पशुपालन को व्यवसाय के रूप में विकसित करने की योजनावद्ध प्रयास चल रहे हैं । पशुपालन कृषि के साथ जुड़ा हुआ है । किसान सामान्यत: दुधारू पशु रखता है और घर में खर्च के वाद जो दूध-घी वचता है उसे वाजार में वेचता है । पशुपालक को उत्पादन का पूरा मूल्य मिले और नियमित वाजार मिले, इस दृष्टि से, दुग्ध सहकारी समितियां विकसित की जा रही हैं । इसके साथ-साथ पशुपालन अधिक लाभकारी वने तथा वैज्ञानिक ढंग से किया जाय, इस दिशा में भी प्रयास किया जा रहा है । इस दिशा में तीन स्तरीय संगठन खड़े किये जा रहे हैं :—(1) प्राथमिक दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति, (2) जिला (एक या एक से अधिक) स्तर पर दुग्ध उत्पादक सहकारी संघ, (3) राज्य स्तर पर फेडरेशन ।

30 जून, 1981 तक राज्य में 13 जिला स्तरीय दुग्ध उत्पादक सहकारी संघ स्थापित हो चुके थे । इनमें कुछ संघों का कार्य-क्षेत्र एक से अधिक जिले हैं ।

प्राथमिक दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति मौलिक इकाई है। इस स्तर की समिति किस सीमा तक सफल हो पा रही है, वही दुग्ध सहकारिता की सफलता, असफलता का मापदण्ड माना जा सकता है। राज्य के कुछ जिलों में दुग्ध उत्पादक सहकारी समितियां बड़ी संख्या में स्थापित की जा रही हैं। इनमें मुख्य हैं—अजमेर, अलवर, बीकानेर, जयपुर, जोधपुर, पाली, भीलवाड़ा और भरतपुर। यह प्रयास किया जा रहा है कि सभी जिलों में सहकारी समितियों के माध्यम से इस कार्य को आगे बढ़ाया जाय।

राज्य में दुग्ध उत्पादक सहकारी समितियों की स्थिति नीचे की सारणी में देख सकते हैं :—

सारणी संख्या 4 : 7

दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति[11] 30 जून, 1981

विवरण	संख्या	प्रतिशत
1	2	3
1. कुल सहकारी समितियां	2164	100.00
2. बन्द सहकारी समितियां	822	38.00
3. कुल सदस्य संख्या	114463	—
4. लाभ कमाने वाली स. समितियां	863	39.87
5. लाभ की राशि (लाख रु.)	20.28	—
6. घाटे की समितियां	490	22.65
7. घाटे की राशि (लाख रु.)	47.06	—

अन्य सहकारी समितियां

ऊपर कुछ प्राथमिक सहकारी समितियों की जानकारी दी गई है। इसके अलावा भी कई कार्यों के लिए सहकारी समितियां बनी हैं जिनका संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है। राज्य में कुल 17 ऐसी प्राथमिक सहकारी समितियां हैं जो कि मुर्गी पालन के लिए बनी हैं लेकिन इनमें से 12 बन्द पड़ी हैं। एक घाटे में चल रही है तथा 4 लाभ में चल रही हैं। इन समितियों की कुल सदस्यता 682 है। कृषि कार्य को सहकारी समितियों (Farming cooperative societies) की संख्या 338 है जिनकी कुल सदस्य संख्या 6444 है। इन समितियों में से 212 संयुक्त कृषि सहकारी समिति (Joint) हैं जबकि 126 सामूहिक (Collective) कृषि सहकारी समितियां हैं। इस सम्बन्ध में मुख्य जानकारी इस प्रकार है :—

सारणी संख्या 4 : 8

कृषि सहकारी समितियां 1981

विवरण	संख्या
1	2
1. कुल संख्या	338
2. सदस्यता	6444
3. कुल जमीन (एकड़ में)	29281
4. खेती हो रही भूमि (एकड़ में)	297
5. लाभ कमाने वाली समितियां	5
6. लाभ राशि (लाख रु.)	0.61
7. घाटे की समितियां	333

उपरोक्त तथ्यों से यह बात सामने आती है कि मात्र 5 समितियां सक्रिय हैं। शेष समितियों की स्थिति निष्क्रिय जैसी है।

राज्य में कुल 1562 भवन निर्माण सहकारी समितियां बनी हुई हैं। इसकी कुल सदस्यता 123,382 है। इन समितियों की मुख्य जानकारी इस प्रकार है :

विवरण	अ. जा.	सामान्य	योग
शहरी क्षेत्र	276	376	652
ग्रामीण क्षेत्र	868	42	910
योग	1144	418	1562

वर्ष 1981 तक इन समितियों द्वारा कुल 27,155 मकान बनाये गये जिस पर कुल 1680.13 लाख रु. व्यय हुए। राज्य में श्रमिक ठेके की कुल 871 सहकारी समितियां हैं जिनमें 27,621 सदस्य शामिल हैं। राजस्थान में वन-श्रमिक सहकारी समितियों की कुल संख्या 78 है जिनकी सदस्यता 6566 है। इनका मुख्य कार्य वन-उत्पादन का संग्रह एवं बिक्री का है। लेकिन इनमें से अधिकांश समितियों का कार्य बन्द है।[12]

भूमि विकास कार्य को मदद देने की दृष्टि से राज्य में कुल 35 भूमि विकास बैंक हैं जिनकी 122 स्थानों पर शाखा है। इनकी कुल सदस्य संख्या 3,99,815 है। लेकिन इनमें से केवल 23,997 सदस्यों को ही लाभ पहुंचा है, जिनका प्रतिशत 6.00 बैठता है। भूमि विकास के लिए प्रति सदस्य औसत 7,189 रु. दिया गया।

राजस्थान में सहकारिता आन्दोलन की दिशा

राज्य में कानूनी सहकारिता कार्यक्रमों के माध्यम से कई प्रकार के आर्थिक कार्यों को करने का प्रयास किया जा रहा है। राज्य में बने कानून के अन्तर्गत किसी भी आर्थिक कार्य के लिए सहकारी समिति गठित की जा सकती है।

जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है—सहकारिता में मुख्य बात कार्य में सहकार की भावना एवं भागीदारी का होना है। यह माना गया कि सहकारिता के माध्यम से छोटी-छोटी इकाइयां आर्थिक कार्यक्रम को स्वयं आगे बढ़ायेंगी। जो कार्य एक व्यक्ति नहीं कर पाता है, उसे कई लोग मिलकर, सहकारी समिति बनाकर कर सकेंगे। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर प्राथमिक सहकारी समितियों की स्थापना पर विशेष जोर दिया गया। सहकारी समितियों की संभावना की खोज की गई और इस बात पर जोर दिया गया कि ग्रामीण क्षेत्र में, खासकर कृषि एवं परम्परागत धन्धों के विकास, उपभोग वस्तुओं की आपूर्ति, दुग्ध विकास आदि कार्यक्रम सहकारिता के माध्यम से आगे बढ़ाया जाय। ग्रामीण क्षेत्रों में जिन कार्यों के लिए सहकारी समितियां बनी उनमें मुख्य हैं—कृषि साख सहकारी समिति, कृषि गैर-साख सहकारी समिति, उपभोक्ता सहकारी समिति। इन सब कार्यों को एक सूत्र में बांधने की दृष्टि से ग्रामसेवा सहकारी समिति को संगठित किया गया। इसके अतिरिक्त परम्परागत धन्धों को आगे बढ़ाने की दृष्टि से औद्योगिक सहकारी समितियां बनीं जिनमें प्रमुख हैं बुनकर सहकारी समिति, चर्मकारी सरकारी समिति आदि। दुग्ध उत्पादक एवं बिक्री को व्यवस्थित करने एवं पशुपालन को आगे बढ़ाने के लिए दुग्ध उत्पादक सहकारी समितियां बनीं। प्राथमिक सहकारी समितियों को बल पहुंचाने के लिए सहकारी संघों की स्थापना की गई। सहकारिता को वित्तीय आधार प्रदान करने के लिए सहकारी बैंकों की स्थापना की गई। इसी प्रकार उद्योग भी सहकारिता के आधार पर चले, उस दिशा में भी प्रयत्न किये गये। यह कहा जा सकता है कि कानूनी सहकारिता के विविध आयाम हैं। सरकार कानून के माध्यम से सहकारिता को व्यापक करने का प्रयास करती रही है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सहकारिता की सफलता एवं उसकी दिशा के बारे में जानने के लिए आवश्यक है कि सहकारी समितियों की कठिनाइयों तथा उनकी वर्तमान स्थिति की जानकारी प्राप्त की जाय। इस संदर्भ में प्राथमिक सहकारी समितियों की समीक्षा करना उपयोगी होगी। सर्वेक्षण के दौरान प्राथमिक सहकारी समितियों से उनकी वस्तुस्थिति, कठिनाइयों आदि के बारे में जानकारी प्राप्त की गई। इस सम्बन्ध में समिति के सदस्यों एवं अधिकारियों से साक्षात्कार भी किये गये हैं।

सर्वेक्षण में निम्नलिखित सहकारी समितियों को शामिल किया जा सका है :

1. ग्राम सेवा सहकारी समिति–कृषि साख एवं गैर-साख ।
2. औद्योगिक सहकारी समिति ।
3. दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति ।

(क) ग्राम सेवा सहकारी समितियां

ये समितियां गांव के लोगों की आर्थिक एवं अन्य प्रकार से मदद करती हैं। कृषि कार्यो को मदद की दृष्टि से वीज, खाद, कीटनाशक दवाएं आदि की विक्री की व्यवस्था करती हैं तथा इन कार्यो के लिए अल्पकालीन ऋण भी देती हैं। समिति उपभोक्ता सामग्री की आपूर्ति का कार्य भी करती है जैसे सस्ता वस्त्र, मिट्टी का तेल, चीनी आदि। समिति के द्वारा पशु खरीद तथा अन्य कार्यों के लिए भी कर्जा दिया जाता है। एक प्रकार से ये समितियाँ वहुधन्धी समिति के रूप में कार्यरत हैं। वर्तमान स्थिति में इसका लाभ सीमित लोग ही उठा पाते हैं। इसके कई कारण हैं। कारणों को स्पष्ट करते हुए समिति के एक भूतपूर्व मन्त्री ने अपनी कठिनाई वताई, समिति के ठीक से नहीं चलने का एक मुख्य कारण सचिव का सरकारी होना है। सचिव के ऊपर भ्रष्टाचार के कई आरोप हैं, गांव वालों ने लिखित में शिकायत पत्र दिया, प्रस्ताव भी किया परन्तु कुछ भी नहीं हुआ। अधिक-से-अधिक उसका तवादला हो जाता है। लेकिन वह जहां जायगा वहीं भ्रष्टाचार करेगा। हमने आरोप सिद्ध कर दिया फिर भी जांच चल रही है। जव तक सचिव पर नियन्त्रण नहीं रहेगा तव तक समिति का काम सही ढंग से नहीं चलेगा। 'लेकिन सभी सचिव एक जैसे नहीं होते हैं। कई गाँवों में सचिव अच्छे भी हैं। पर अन्य प्रकार की कठिनाई है। एक समिति के सक्रिय सदस्य की राय में,' समिति के कुछ प्रभावी एवं पुराने सदस्य समिति के काम में वाधक हैं। एक मछली पूरे तालाव को गंदा करती है। आप देख सकते हैं—यहां कुछ सदस्य परम्परागत प्रभाव का इस्तेमाल करके कर्जा ले लेते हैं पर उसे वापस नहीं करते हैं। स्थिति यह वन जाती है कि समिति के ऊपर कर्ज की रकम वढ़ जाती है, वसूली कम हो जाती है। इसके कई कुपरिणाम होते हैं जैसे—

1. देखा-देखी अन्य लोग भी कर्ज नहीं वापस करते—कहते हैं अमुक व्यक्ति ने नहीं किया तो हम क्यों करें।
2. वसूली कम होने से अगले साल अल्पकालीन ऋण नहीं प्राप्त होता है।
3. जो सदस्य किश्त वापस कर देते हैं, उन्हें भी कर्ज नहीं मिल पाता क्योंकि वसूली का निर्धारित लक्ष्य पूरा नही हो पाता है ।

एक अन्य व्यक्ति ने राय व्यक्त की कि वर्तमान कानून में समिति एक इकाई मानी गई है और कर्ज वसूली की राशि 50 प्रतिशत से कम होने पर अगले वर्ष किसी को भी कर्ज नहीं मिल पाता—जिस सदस्य ने क़िश्त दे दी है उसे भी नहीं, क्योंकि समिति का वसूली का लक्ष्य पूरा नहीं हुआ है। इनकी राय में, 'ऐसा नियम बने कि जिस सदस्य ने किश्त चुका दी, उसे पुनः कर्ज मिले तथा जिसने किश्त नहीं चुकाई उससे वसूल करने का प्रयास किया जाय।'

कभी-कभी गाँव की गुटबन्दी समिति को कमजोर करती है और काम रोक देती है। एक की राय में 'समिति के सदस्य स्वार्थवश गुटों में बंटे हुए हैं। ये गुट कभी तो पदों के चुनाव के कारण बनते हैं, तो कई बार आपसी स्वार्थ के कारण नेतृत्व में परिवर्तन होने पर पुराना नेतृत्व आने वाले की मदद नहीं करता है। सहकारिता की संस्थाओं में इन गुटों के कारण कार्य में सहकार कम होता है।' ग्राम सेवा सहकारी समिति में सभी सदस्यों का सहयोग आवश्यक है। समय-समय पर समिति की साधारण सभा की बैठकें होती हैं। आमतौर पर यह देखा गया कि बैठकों में उपस्थिति बहुत कम रहती है। 'समिति की बैठकें बहुत कम होती हैं। जब बैठकें होती हैं उसमें भी गिने-चुने लोग ही आते हैं। इसके कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा गया,' इसके कई कारण हैं। जैसे—(क) सभी सदस्यों को समिति से समान रूप से लाभ नहीं मिलता है तो सब क्यों आयें? (ख) जिनको लाभ मिलता है वे भी दुबारा लाभ मिलने की आशा न होने पर उसके कार्यों में रुचि नहीं लेते हैं। (ग) कुछ लोग यह मान-कर कि मेरी कौन सुनेगा—जो प्रभावशाली सदस्य हैं वे अपनी मर्जी चलायेंगे, उदासीन हो जाते हैं और कहने लग जाते हैं कि क्यों जायें। (घ) पिछड़े वर्ग एवं अ. जाति के लोग अशिक्षा, जानकारी की कमी के कारण नहीं आते हैं।' इस अनुपस्थिति का परिणाम यह होता है कि 'सहकारी समिति में कुछ लोग ही प्रभावशाली बने रहते हैं। समिति में सामान्य सदस्यों का सहयोग नहीं मिल पाता है।' समिति की बैठकों में सदस्यों की उपस्थिति 10 से 20 प्रतिशत ही पाई गई। इसका परिणाम यह होता है कि ग्राम सेवा सहकारी समिति में गतिशीलता नहीं रह पाती है। जहां तक इसकी सदस्यता का प्रश्न है, भूस्वामी अधिक हैं। जैसा कि ऊपर की सारणी से भी स्पष्ट होता है कि ग्राम सेवा सहकारी समिति का लाभ उन्हीं परिवारों को अधिक मिलता है जिनके पास भूमि है और जो खेती करते हैं। समिति के कार्यों के विश्लेषण से भी यह बात सामने आती है। उदाहरण के लिए समिति मुख्यतः बीज, खाद, कृषि यन्त्र, सिंचाई साधन आदि के लिए मदद देती है। हां, उपभोक्त वस्तुओं की आपूर्ति का लाभ सामान्य सदस्य को भी मिल जाता है।

(ख) दस्तकार सहकरी समिति

"दस्तकारों की सहकारी समिति के ठीक से नहीं चलने का एक प्रमुख कारण सदस्यों का अशिक्षित होना है। बुनकर सहकारी समिति के अध्यक्ष अशिक्षित हैं। उन्हें कार्य की कोई जानकारी नहीं है। फलस्वरूप समिति के एक दो प्रभावशाली सदस्य समिति के पूरे कर्ताधर्ता बने हुये हैं। उन्होंने कार्य बिगाड़ रखा है। इस प्रकार 25–30 वर्ष पुरानी समिति पर से सदस्यों का विश्वास उठ गया है।" उक्त बात बुनकर सहकारी समिति के एक ऐसे सदस्य ने कही जो वर्षों से समिति में है लेकिन अब व्यक्तिगत स्तर पर बुनाई का कार्य करता है। सहकारी समिति के एक अन्य सदस्य की राय में, "समिति के कुछ सदस्य नियमों का पालन नहीं करते। उदाहरण के लिए समिति ने प्रत्येक सदस्य को, सूत खरीदने के लिए कर्ज दिया है लेकिन अब वह सदस्य कपड़ा समिति को न देकर सीधे बाजार में बेचने लगा है इससे समिति की रकम फंस गई और काम रूक गया।' इस स्थिति में यह देखा गया कि सदस्यों का समिति के प्रति विश्वास कम होता जाता है। समिति के कुछ सदस्य समिति से आर्थिक मदद प्राप्त कर व्यक्तिगत स्तर पर काम शुरू कर देते हैं।

वस्त्र बुनाई के अतिरिक्त लकड़ी का काम करने वालों ने भी सहकारी समिति बनाई है। इस प्रकार की एक समिति के बारे में यह जानकारी मिली कि, 'लकड़ी खरीदने के लिए बैंक से कर्ज प्राप्त किया गया था। कुछ समय तक काम भी चला था लेकिन वर्तमान स्थिति यह है कि समिति के अध्यक्ष एवं मन्त्री किसी का पता नहीं। बैंक ने मशीनों को अपने कब्जे में कर रखा है। जब तक चुने हुए अध्यक्ष-मन्त्री काम में रुचि नहीं लेंगे, तब तक काम आगे नहीं बढ़ सकता है।'

दस्तकारी के लिए बनी समिति में कुछ सदस्य सहकारिता की भावना को समझते हैं। ऐसे ही एक व्यक्ति ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा—'सहकारिता तभी चल सकती है जबकि सदस्यों में सहकार की भावना हो। समिति के न चल पाने के कई कारण हैं—(क) आपसी विश्वास में कमी होना (ख) हिसाब-किताब ठीक से नहीं रखना—यानि आर्थिक गड़बड़ी होना, (ग) सदस्यों के साथ समानता का व्यवहार न करना, (घ) कभी किसी सदस्य या अधिकारी द्वारा अधिक लाभ ले लेना। (च) आर्थिक साधन सुविधाएं समय पर या पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलतीं—जैसे सहकारी बैंकों से कर्जा, कच्चा माल, साधन, औजार, बिक्री की व्यवस्था आदि की कमी।'

सर्वेक्षित औद्योगिक सहकारी समितियों के अध्ययन के दौरान कुछ कठिनाइयां इस रूप में बताई गईं :—

1. समय पर कच्चा माल नहीं मिलना या कच्चा माल खरीद के लिए पर्याप्त राशि नहीं मिलना। उदाहरण के लिए चर्मोद्योग में चमड़ा खरीद के लिए जितनी रकम का प्रावधान है, वह कम है और उससे यह उद्योग पूरे समय तक नहीं चल पाता है। इसी प्रकार बुनाई में भी सूत खरीद के लिए मिलने वाला कर्ज पर्याप्त नहीं है। कर्ज समय पर नहीं मिलने के कारण भी कठिनाई होती है।
2. यह भी पाया गया कि कर्ज प्राप्त करने की प्रक्रिया इतनी जटिल है कि दस्तकार उसे प्राप्त करने में परेशानी महसूस करता है। कभी-कभी तो इस प्रक्रिया से उकताकर समिति में भागीदार इस झमेले में नहीं पड़ना चाहता। यह भी कहा गया कि सम्बन्धित कर्मचारियों की मनमानी एवं धांधली के कारण कर्ज प्राप्त करने में उन्हें पूरी रकम नहीं मिल पाती है।
3. परम्परागत दस्तकारियों से सम्बन्धित सहकारी समिति के सामने पक्के माल की बिक्री की भी समस्या रहती है। यथा वस्त्र, मिट्टी के बरतन, लकड़ी के सामान आदि में बिक्री की कठिनाई पाई गई। इस स्थिति में तैयार माल की बिक्री की अच्छी व्यवस्था न होने के कारण समिति में शिथिलता आती है।
4. सदस्यों ने एक कठिनाई समिति में ऐसे सक्षम व्यक्ति की कमी भी बताई जो कि कुशलतापूर्वक हिसाब रख सके और कच्चा माल प्राप्ति, बिक्री व्यवस्था, कर्ज आदि का कार्य कर सके।

(ग) दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति

वही व्यक्ति समिति का सदस्य बन पाता है जो दुधारू पशु पालता है और उसका दूध उत्पादन इतना होता है कि वह उसे बेच सके। यहां दूध बेचने में कोई निश्चित मात्रा का प्रश्न नहीं उठता। लोग एक-दो किलो से लेकर पांच-दस किलो तक दूध बेचते पाये गये।

दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति का व्यापक उद्देश्य होते हुए भी वर्तमान परिस्थिति में वह सामान्य दुग्ध उत्पादकों को आकर्षित नहीं कर पा रही है। व्यवहारतः समिति मुख्यतः दुग्ध खरीद के माध्यम के रूप में कार्यरत है। उसके अन्य उद्देश्य भी हैं—जैसे दुधारू पशुधन का विकास, पशुपालन में वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग, उत्तम किस्म के पशु-आहार की आपूर्ति, पशु स्वास्थ्य आदि। लेकिन दुग्ध सहकारी समिति के उक्त कार्यक्रम की जड़ें मजबूत नहीं हो सकी हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए एक सदस्य ने कहा, 'समिति को हम उसी स्थिति में दूध बेचते हैं जब बाजार में दूध नहीं बिकता है। समिति

से हमें अन्य सहायता-सुविधायें नहीं मिलतीं। इस कारण यहां उत्पादक दूध बेचने में खास रुचि नहीं लेता है।'

दुग्ध उत्पादक समिति के सामने जो बाधाएं आती देखी गईं, उनमें कुछ इस प्रकार हैं :—

1. सीमित सुविधाएं—दुधारू पशु विकास के लिए जो सुविधायें मिलनी चाहिए, वे नहीं उपलब्ध हो/पाती हैं। एक सदस्य की राय में, 'जब तक सदस्यों को कुछ विशेष लाभ नहीं मिलेगा, तब तक समिति के सदस्य नहीं बढ़ेंगे। अतः सामान्य पशुपालक की तुलना में सदस्य को कुछ अधिक लाभ-सुविधाएं मिलनी चाहिए।' क्या सुविधाएं मिलें, इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया, 'दुधारू पशु के स्वास्थ्य की जांच, बीमार पशु को दवा और नस्ल सुधार की दृष्टि से उत्तम सांडों की व्यवस्था आदि की सुविधाएं बढ़ाई जायं। आज सुविधाएं इतनी नहीं हैं कि पशुपालक आकर्षित हों' वैसे सैद्धांतिक रूप से इन सुविधाओं का प्रावधान है लेकिन व्यवहार में अभी इस दिशा में पूरी सक्रियता नहीं हो सकी है।
2. उचित भाव—दूध का भाव ठीक होना चाहिए। आमतौर पर समिति का भाव बाजार भाव से कम रहता है। इस कारण उत्पादक पहले बाजार में देने का प्रयास करता है। ऐसे दूध उत्पादक जो सड़क के किनारे के गाँवों में रहते हैं व्यक्तिगत स्तर पर बाजार में दूध बेच देते हैं।
3. दूसरी ओर, दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति का संस्थागत रूप में स्वागत किया गया है। इसकी सफलता की संभावना अधिक है–इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया, 'इसमें उत्पादक को तत्काल लाभ मिलता है। यदि सामान्य सतर्कता रखी जाय तो उत्पादक सदस्य को सीधा एवं कम समय में ही लाभ मिल जाता है। दूध बेचने के थोड़े दिन बाद ही उसकी कीमत मिल जाती है। आवश्यकता इस बात की है कि इस कार्य को नियमित रूप से चलाया जाय तथा अन्य सुविधाएं प्रदान की जायें।'

सर्वेक्षण के दौरान यह देखने में आया कि समिति के सामने मुख्य कठिनाई (क) दूध कम मात्रा में आना (ख) समय पर पैसा नहीं मिलना (ग) नियमित रूप से दूध का नहीं जाने की है। ट्रक के नहीं आने के कारण दूध पड़ा रह जाता है।

सहकारिता आन्दोलन का प्रारम्भ जिन आशाओं से किया गया था और उसकी सफलता की जो स्थिति है उसमें बहुत अन्तर है। आज सहकारिता आन्दोलन जिस स्थिति में पहुंच गया है उसमें सामान्य-जन सहकाहिता के प्रति

उत्साहित नहीं है। इसके अनेक सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक कारण गिनाये जा सकते हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर किया गया है। लेकिन सामान्यजन तो इसे इस दृष्टि से देखता है कि, 'हमें सहकारिता से कितना कुछ प्राप्त होता है और उसे प्राप्त करने के लिए क्या देना पड़ता है।' सहकारिता से जो कुछ प्राप्त होता है और उसके लिए बदले में जो कुछ देना पड़ता है वह मात्र आर्थिक लेन-देन नहीं है बल्कि एक भावना भी है। सदस्यों का लगाव, भागीदारी की मात्रा और स्वरूप, कार्य में सहकार आदि के रूप में जितना देते हैं, उसके बदले उन्हें क्या मिलता है, यह सहकारिता का दूसरा मुख्य पक्ष है। एक अन्य पक्ष यह भी है कि सहकारिता की राजनीति में गुटबन्दी, राग-द्वेष तथा आपसी तनाव के रूप में समाज को क्या लाभ-हानि है। बातचीत के दौरान एक सक्रिय सदस्य ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा, 'सहकारी संस्थाओं को आर्थिक रूप में जितना देते हैं, उसके बदले उतना या उससे अधिक प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन सहकारिता के अन्य पक्षों में जिस प्रकार की राजनीति, गुटबन्दी, नौकरशाही आ जाती है, वह सदस्यों में आपसी दूरी बढ़ाती है एवं कटुता लाती है। इसे दूर किये बिना सहकारिता की सफलता संदिग्ध है।"

सहकारी संस्थाओं की वर्तमान स्थिति को स्पष्ट करते हुए श्री एस. वी. राव[13] ने यह राय व्यक्त की है कि सहकारी संस्थाएं मुख्यतः चार कारणों से अपने लक्ष्य से दूर होती जा रही हैं और उसमें जनभागीदारी कम होती जा रही है—(1) सहकारिता आन्दोलन का राजनीतिकरण होना (2) नौकरशाही का ज्यादा हस्तक्षेप (3) कुशलता का अभाव और (4) लोकतांत्रिक मूल्यों का ह्रास।

बाधाएं और विकास की दिशा

सहकारी आन्दोलन के सामने जो कठिनाइयाँ और बाधाएं हैं तथा उन्हें किस तरह दूर कर किस दिशा में बढ़ना है, इस विषय में निम्नलिखित मुद्दे स्पष्ट करना उपयुक्त होगा :—

1. वैचारिक अन्तराल—कानूनी सहकारिता में जिस प्रकार के वैचारिक आधार की अपेक्षा की गई उसकी कमी पाई गई। सदस्यों का वैचारिक प्रशिक्षण एवं वैचारिक मूल्यों के अनुरूप व्यवहार का अभाव पाया गया। जैसा कि ऊपर कहा गया है सहकारिता की सफलता के लिए लोकतांत्रिक मूल्य, सहकार की भावना, कार्य में सहकार होना आवश्यक है। लेकिन इनका अभाव होने के कारण आपसी गुटबन्दी, चुनाव के प्रश्न पर राग-द्वेष का होना पाया गया। इसके साथ-साथ सहकार की भावना की कमी के कारण उत्पादन तथा अन्य कार्यों में सहकार नहीं आ पाता है।

सामूहिक उत्पादन के लिए प्राप्त साधनों का व्यक्तिगत स्तर पर उपयोग होने के उदाहरण भी सामने आये।

2. आर्थिक व्यवहार में अशुद्धि—हिसाव-किताव का ठीक होना आवश्यक है। सहकारी समितियों में हिसाव-किताव में गड़वड़ियाँ तथा अनियमितता पाई जाती है जिसके कारण सदस्यों में अविश्वास पैदा होता है। यह सहकारी समिति के कार्यों को आगे वढ़ाने में वड़ी वाधा है।

3. कर्ज वसूली की समस्या—वर्तमान नियमों के अनुसार अल्पकालीन ऋण की वसूली होने पर ही सदस्यों को अगले वर्ष कर्ज मिलता है। यह देखा गया कि कुछ प्रभावशाली लोग कर्ज वापस नहीं करते हैं और उनकी देखा-देखी अन्य लोग भी समय पर किश्त चुकाने में देर करते हैं। फलस्वरूप ऐसे लोग भी कर्ज नहीं ले पाते हैं जो कर्ज चुका देते हैं।

4. व्यवस्था सम्वन्धी कठिनाइयाँ—प्राथमिक सहकारी समिति के सामने व्यवस्था सम्वन्धी कई कठिनाइयाँ आती हैं, जैसे (क) शिक्षा की कमी के कारण हिसाव-किताव की परेशानी (ख) कच्चा माल प्राप्त करने एवं समय पर आपूर्ति करते की कठिनाई (ग) वाजार की कठिनाई, तैयार माल की विक्री की ठीक व्यवस्था नहीं हो पाना आदि (घ) गोदाम की भी कठिनाई होती पाई गई।

5. वित्तीय कठिनाई—औद्योगिक सहकारी समिति के सामने वित्तीय कठिनाई अधिक उभर कर आती है। कार्य चलाने के लिए जितनी पूंजी की आवश्यकता होती है उतना धन वैंक या अन्य वित्तीय एजेंसी से नहीं प्राप्त होता।

6. सदस्यों, पदाधिकारियों का प्रशिक्षण कार्यक्रम नहीं चलना, जिसके कारण ग्राम स्तर पर नेतृत्व विकसित नहीं हो पाता।

7. अन्य कारण—(क) सरकारी अधिकारियों, कर्मचारियों का प्रभाव (ख) राजनीतिकरण (ग) कुशलता की कमी (घ) लोकतांत्रिक मूल्यों का ह्रास।

8. सहकारी समिति आर्थिक कार्यों तक सीमित है। सामाजिक कार्यों के लिये आर्थिक सुविधा देने या सहकारी व्यवस्था कायम करने का प्रयास नहीं किया गया। परिणामस्वरूप सवकी भागीदारी एवं रुचि नहीं वढ़ सकी। अतः सामाजिक कार्यों के लिये सहकारी समिति गठित की जाय और इसके लिये भी एक सीमा में आर्थिक मदद भी की जाय—यह भी वहुत लोगों की राय थी।

दिशा

विभिन्न प्रकार की सहकारी संस्थाओं के विस्तार के व्यापक प्रयास के बावजूद प्राथमिक स्तर पर सहकारिता आन्दोलन की जड़ें मजबूत नहीं हो सकीं। हालांकि सभी सहकारी संस्थाएं सिद्धान्ततः प्राथमिक सहकारी समिति एवं उसके सदस्यों पर टिकी हुई मानी जाती हैं। लेकिन व्यवहार में सहकारी संस्थाएं प्रशासक (सहकारी अधिकारी, कर्मचारी) एवं राजनेताओं द्वारा संचालित हो रही हैं। अधिकांश प्राथमिक सहकारी समितियां निष्क्रिय हैं। कुछ समितियां चल रही हैं तो उनका कार्यक्षेत्र कर्ज प्रदान करना एवं उपभोक्ता वस्तुएं उपलब्ध कराना ही रह गया है। इनकी जड़ें मजबूत नहीं हो सकी हैं या यों कहें प्राथमिक स्तर पर सहकारी नेतृत्व नहीं विकसित हो सका है। सहकारी संस्थाओं में औद्योगिक कार्यों के लिये बनी सहकारी समितियों की अहम भूमिका हो सकती है। लेकिन जैसा कि हमने देखा अधिकांश प्राथमिक औद्योगिक सहकारी समितियां बन्द हैं। कमोवेश यही स्थिति अन्य समितियों की भी है। समितियों की निष्क्रियता के कुछ कारण ऊपर गिनाये गये हैं, उनमें कुछ और जुड़ सकते हैं। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि सहकारी आन्दोलन को असफलता के कगार पर पहुंचाने में अनेक कारणों का योगदान है। एक कारण यह भी है कि इसमें भारतीय समाज रचना एवं उसमें चली आ रही परम्परागत सहकार एवं सहयोग की भूमिका पर विचार नहीं किया गया। उसका लाभ नहीं उठाया जा सका है। वास्तविकता तो यह है कि इस परम्परा के महत्व को भी भुला दिया गया है। कानूनी सहकारिता का शिक्षण देते समय भी भारतीय समाज में व्याप्त परम्परागत सहकारिता का समावेश नहीं किया जाता। कानूनी सहकारिता ऐसा विदेशी पौधा है जिसकी जड़ें भारतीय मिट्टी में नहीं जम सकीं और भारतीय आब-हवा में वह पनप और बढ़ नहीं सका।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए इस बात की आवश्यकता है कि पूरे सहकारी आन्दोलन, उसकी कमजोरियों एवं बाधाओं पर विस्तार से विचार किया जाय। जो सिद्धांत राष्ट्रीय विकास परिषद ने सहकारी आन्दोलन के लिए निश्चित किये थे, उन्हीं का सहकारी समितियों के कार्यान्वयन में अभाव पाया जाता है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि पूरे सहकारी आन्दोलन की अब तक की क्रियान्विति पर गहराई से विचार किया जाय और सहकारी आन्दोलन के आधारभूत सिद्धांतों का निश्चय करके उसके अनुसार सहकारीसमितियों का गठन और संचालन किया जाय। इसमें परम्परागत सहकारिता का भी अध्ययन किया जाय और उसी में नये आन्दोलन की कलम लगाई जाय ताकि

उसी आधार और हवा-पानी के अनुरूप यह पौधा अधिक विकसित होकर फल-फूल दे सके।

हमारे विचार से पूरी सहकारिता आन्दोलन को प्राचीन भारतीय परम्परागत सहकारिता की जड़ों पर पुनंगठित करना होगा और इसका स्वरूप स्थिर कर उसे कानूनी स्वरूप देना होगा। फिर उस स्वरूप को जन शिक्षण के जरिये जन-मानस में उतारना होगा और प्राथमिक सहकारी समितियों से प्रारंभ कर नीचे से ऊपर बढ़ना होगा। जन-मानस में सहकारिता के प्रति रुचि जागृत करने में परम्परागत सहकारिता के उदाहरण प्रभावी भूमिका अदा कर सकते हैं। इस कार्य में लोक-शिक्षण महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। लोक-शिक्षण कार्य में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संस्थाओं का सहयोग उपयोगी होगा। भारतीय समाज पर साधु, संत, लोक-कलाकार, लोकगीत, कथा-कहानियों का हृदयस्पर्शी प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से परम्परागत एवं कानूनी सहकारिता के सिद्धांत एवं व्यवहार के प्रसार में उनका पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। इस कार्य के लिये सरल एवं हृदयस्पर्शी भाषा में साहित्य की रचना की जाय और प्रौढ़ शिक्षा तथा सामान्य साहित्य प्रसार के माध्यम से सहकारिता की बात को जन-जन तक पहुंचाई जाय। इस दृष्टि से साहित्य रचना का कार्य भी हाथ में लिया जाना चाहिए।

कानूनी सहकारिता के सामने आने वाली कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए इस कार्य को स्वशासित एजेंसी द्वारा किया जाना उचित रहेगा। सहकारिता का कार्य स्वशासी बोर्ड या कार्पोरेशन के माध्यम से किया जाय। इसमें इस बात का प्रयास रहे कि इस कार्य में राजनैतिक एवं दलीय संकीर्णता नहीं आये। यद्यपि राज्य का कर्त्तव्य सहकारिता का प्रसार करना है लेकिन उसे राजनैतिक हथियार नहीं बनाया जाय। स्वशासी एजेंसी इस दिशा में मददगार हो सकती है।

संदर्भ

1. आर. सी. द्विवेदी; डेमोक्रेसी इन कोआपरेटिव मूवमेंट, नेशनल कोआपरेटिव यूनियन ऑफ इण्डिया; नई दिल्ली, 1982.
2. रिपोर्ट ऑफ द वर्किंग ग्रुप आनद कोआपरेटिव पॉलसी; भारत सरकार, 1959.
3. प्रोसीडिंग आफ द कान्फ्रेंस आफ स्टेट मिनिस्टर्स आफ कोआपरेशन; 1970, भारत सरकार, पृष्ठ 5.

4. सहकारिता मन्त्रियों का सम्मेलन 1974, भारत सरकार, पृष्ठ 27.
5. राजस्थान में सहकारिता ग्रान्दोलन 1980–81, सहकारिता विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर, पृष्ठ 4–8.
6. उपरोक्त पेज 40.
7. स्रोत, उपरोक्त, पृष्ठ 30.
8. स्रोत, उपरोक्त, पृष्ठ 31.
9. स्रोत–उपरोक्त, पृष्ठ 32.
10. स्रोत–उपरोक्त पृष्ठ 78.
11. उपरोक्त, पृष्ठ 94.
12. स्रोत, उपरोक्त,
13. एस. वी. राव, परफार्मेंस ग्राफ कोग्रापरेशन; द इकनामिक टाइम्स; 30 मई, 1983, नई दिल्ली।

5

सर्वेक्षित गांवों में कानूनी सहकारिता

ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित सहकारी समितियों के गठन के पीछे विद्यमान पृष्ठभूमि के बारे में जानकारी प्राप्त की गई और यह पाया गया कि सहकारी विभाग के प्रोत्साहन देने पर सहकारी समिति का गठन इसके सदस्यों ने किया। प्रारंभिक वर्षों में सदस्यों में उत्साह भी रहता है। कालांतर में उत्साह में कमी तथा अन्य कारणों से कार्य में शिथिलता आने लगती है। सहकारी समितियों की स्थापना जिन तत्वों के प्रयत्नों से होती पाई गई, उनमें मुख्य ये हैं :

1. सम्वन्वित विभागों के प्रेरित करने पर—यह पाया गया कि विभिन्न विभागों ने, अपनी नीति को ध्यान में रखते हुए, योजना की क्रियान्विति के लिए सहकारी समिति गठित करने की प्रेरणा दी। उदाहरण के लिए दुग्ध विकास निगम दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति के लिए तथा उद्योग विभाग औद्योगिक सहकारी समिति के लिए और कृषि विभाग, कृषि सहकारी समिति तथा विकास विकास विभाग, ग्राम सेवा सहकारी समिति के लिए लोगों को प्रेरित करते रहे हैं।

2. ऐसा भी देखा गया कि गांव का नेतृत्व करने वाले, प्रमुख लोगों की प्रेरणा से ग्राम स्तर पर सहकारी समितियों का गठन किया जाता है। सहकारी उपभोक्ता भंडार एवं श्रमिक ठेका सहकारी समिति ऐसे ही लोगों की प्रेरणा से गठित हुई है। गांव के प्रबुद्ध लोग, ग्राम पंचायत के प्रतिनिधि आदि इस कार्य में आगे आते पाये गये। कई वार नेतृत्व के लोभ के कारण भी सहकारी समिति गठित होती पाई गई।

3. लाभान्वित व्यक्तियों ने स्वयं की प्रेरणा से भी सहकारी समिति स्थापित करने का प्रयास किया यथा वहादुरपुर तथा कानोता में बुनकरों ने तथा

कानोता में खातियों ने स्वयं के प्रयत्नों से सहकारी समिति बनाई। ऐसी स्थिति में यह पाया गया कि जब तक संस्थापक सदस्य सक्रिय रहे तब तक समिति सफलतापूर्वक कार्य करती रही और उनके निष्क्रिय होते ही समिति का कार्य भी ठप्प पड़ गया।

सर्वेक्षित क्षेत्रों में जितने प्रकार की समितियां पाई गईं उनमें ग्राम सेवा सहकारी समितियां एवं उत्पादक सहकारी समितियां मुख्य हैं। चर्चा के दौरान सदस्यों ने बताया कि विचार स्तर पर सभी सदस्य मानते हैं कि एक साथ मिलकर कार्य करने पर कार्य में सुविधा रहती है। बहादुरपुर की बुनकर सहकारी समिति के एक सदस्य की राय में, 'बुनकरों ने काम बढ़ाने के लिए समिति बनाई और यह अपेक्षा रखी कि इससे आर्थिक राहत मिलेगी, पूंजी का संकट घटेगा, साधन सुलभ होंगे, कच्चा माल मिलेगा और पक्का माल बिकने की समस्या कम होगी। लेकिन देखा गया कि समिति के कुछ सदस्य एवं पदाधिकारी व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण काम नहीं होने देते हैं।'

सर्वेक्षित गांवों में विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों की निम्नलिखित स्थिति पाई गई :

सारणी संख्या 5 : 1

सर्वेक्षित गांवों में सहकारी समितियां

गांव का नाम	सहकारी समितियां
1	2
1. कानोता	1. ग्राम सेवा सहकारी समिति
	2. दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति
	3. बुनकर सहकारी समिति
	4. श्रमिक ठेका सहकारी समिति
	5. खाती सहकारी समिति
2. हीरावाला	यहां अलग से सहकारी समिति नहीं है। यहां के किसान कानोता स्थित ग्राम सेवा सहकारी समिति से ही संबद्ध हैं।
3. बहादुरपुर	1. ग्राम सेवा सहकारी समिति
	2. दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति
	3. कोली बुनकर सहकारी समिति
4. सिसनी	1. ग्राम सेवा सहकारी समिति
5. थून	1. ग्राम सेवा सहकारी समिति

1	2
6. तसीमों	1. ग्राम सेवा सहकारी समिति
7. विराटनगर	1. ग्राम सेवा सहकारी समिति
	2. श्रमिक ठेका सहकारी समिति
	3. कृषि सहकारी समिति
	4. वुनकर सहकारी समिति
	5. गृह निर्माण सहकारी समिति
योग	16

वर्तमान स्थिति

स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्र में मुख्यतः कृषि से सम्वन्धित कार्यों में संलग्न ग्राम सेवा सहकारी समितियाँ हैं। केवल कानोता और वहादुरपुर में औद्योगिक तथा अन्य सहकारी समितियाँ हैं। हालके वर्षों में दुग्ध विकास को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से दुग्ध उत्पादक सहकारी समितियाँ गठित की जा रही हैं। कानोता और वहादुरपुर दोनों ही क्षेत्रों में ऐसी सहकारी समितियाँ हैं। अन्य गाँवों में मात्र ग्राम सेवा सहकारी समिति है। ग्राम सेवा सहकारी समिति वहुधन्धी कार्य करती है। कृषि कार्य (खाद, वीज आदि) के लिए अल्पकालीन ऋण देने के साथ-साथ उपभोक्ता वस्तुओं की विक्री, खाद, कीटनाशक दवाओं की विक्री का कार्य भी करती हैं।

सहकारी समितियों की सक्रियता की जो स्थिति पाई गई उसको तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(1) सक्रिय सहकारी समिति (2) वर्षों तक कार्यरत रही लेकिन पिछले 3–4 वर्षों से निष्क्रिय या नाम-मात्र कार्य करने वाली सहकारी समिति, (3) वन्द हो गई सहकारी समिति। इस श्रेणी में ऐसी समितियाँ भी हैं जिनके वारे में इस समय कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। कई समितियों के तो कार्यालय या पदाधिकारियों के वारे में भी सदस्य अनभिज्ञ हैं। जवकि कुछ समितियों के पदाधिकारियों के वारे में जानकारी तो मिली लेकिन उनके पास कोई रेकार्ड उपलब्ध नहीं है। विभिन्न गाँवों की सहकारी समितियों के वारे में उपलब्ध जानकारी नीचे दी जा रही है।

कानोता

कानोता ग्राम में पाँच सहकारी समितियाँ वनीं। इनमें से केवल एक समिति—ग्राम सेवा सहकारी समिति सक्रिय है। दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति भी चल रही है लेकिन इसके सव सदस्य लाभ नहीं उठाते। कुछ सदस्य

अनियमित रूप से दूध बेचते पाये गये। ग्राम सेवा सहकारी समिति कृषकों को ऋण, खाद, बीज देने का कार्य करती है। इसके साथ उपभोक्त वस्तुओं यथा कपड़ा, चीनी आदि को उचित मूल्य पर बिक्री का कार्य भी करती है।

आज से 20 वर्ष पूर्व स्थापित खातियों की सहकारी समिति वर्षों से बन्द पड़ी है। शुरु में लेथ मशीन एवं आरा मशीन खरीदी गई। पाँच-सात वर्षों तक कुछ कार्य भी हुआ लेकिन पिछले 10–12 वर्षों से काम बन्द है। इनके पदाधिकारियों से सम्पर्क करने पर भी इसके कार्यों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल सकी। यही स्थिति श्रमिक ठेका सहकारी समिति की पाई गई। श्रमिकों ने आपसी सहकार के आधार पर निर्माण कार्य के ठेके लेने के उद्देश्य से समिति गठित की थी। शुरू में कुछ काम हुआ लेकिन बाद में कार्य ठप्प पड़ गया। कई वर्षों से यह इतनी निष्क्रिय है कि समिति के बारे में कोई जानकारी देने की स्थिति में भी नहीं है।

बुनकर सहकारी समिति का कार्य बीच-बीच में चलता है लेकिन सदस्यों में एकता नहीं होने के कारण काम आगे नहीं बढ़ पाता है। कई वर्षों बन्द रहने के बाद 1980 में नया चुनाव हुआ तथा पुनः धन जुटाकर कच्चा माल प्राप्त करने की योजना बनी। लेकिन करीब 7,000) रु. का सूत खरीदने के बावजूद काम आगे नहीं बढ़ सका क्योंकि सूत का वितरण सही ढंग से नहीं किया गया तथा कुछ लोगों ने उसे आपस में बांट लिया। बाद में कर्ज का भुगतान नहीं होने के कारण पुनः जीवित की गई समिति का काम ठप्प हो गया।

इस प्रकार कानोता गाँव की पांच समितियों में एक पूर्णतः सक्रिय, एक अर्द्ध-सक्रिय तथा शेष तीन बन्द प्रायः स्थिति में हैं। दुग्ध सहकारी समिति के बारे में यह बात बताई गई कि शहर एवं गांवों में विपणन की सुविधा होने के कारण दूध मंहगा बिकता है जबकि डेयरी में फैट के अनुपात में भाव होने के कारण दूध विक्रेता को पूरा पैसा नहीं मिलता। इस परिस्थिति में यहां दुग्ध सहकारी समिति का लाभ सभी सदस्यगण समान रूप से नहीं उठाते।

बहादुरपुर

इस गाँव में तीन सहकारी समितियाँ हैं। इनमें से दो समितियाँ (1) ग्राम सेवा सहकारी समिति एवं (2) दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति सक्रिय मानी जा सकती है। तीसरी समिति बुनकरों की है। यह समिति 1946 में उस समय स्थापित की गई थी जब कपड़े पर कन्ट्रोल था। उस समय हाथकर्घा बुनाई का कार्य अच्छा चला। समिति के सदस्यों के कथनानुसार प्रथम 10 वर्षों तक समिति काफी सक्रिय थी और वह सदस्यों के लिए कच्चा माल (सूत) खरीदकर लाती थी और उनके द्वारा उत्पादित माल के विक्रय में सहयोग देती

थी, लेकिन छठे दशक (1960-70) में धीरे-धीरे इसका ह्रास होता गया। कोरी समाज (बुनकर) अशिक्षित हैं। वर्तमान में जो व्यक्ति अध्यक्ष है वह कुछ भी नहीं समझता और समिति के बारे में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ है। समिति पिछले 10-12 वर्षों से बन्द पड़ी है। सदस्यों की संख्या 21 बताई गई। बन्द होने के मुख्य कारणों में कर्ज का वापस नहीं होना, कुछ स्वार्थी सदस्यों द्वारा गलत लाभ लेना तथा सदस्यों में आपसी अविश्वास बताया गया।

बहादुरपुर दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति के सदस्यों की कुल संख्या 62 है। प्राप्त जानकारी के अनुसार प्रतिदिन करीब 30 से 50 किलो दूध समिति को प्राप्त होता है। करीब 75 प्रतिशत दूध उत्पादक सदस्य समिति को दूध नहीं देते। पिछले तीन वर्षों में समिति द्वारा जो कारोबार किया गया उसकी जानकारी नीचे की सारणी से मिल सकती है :—

सारणी संख्या 5 : 2

दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति बहादुरपुर[1]

वर्ष	कार्य	क्रय (रुपये)	विक्रय (रुपये)
1	2	3	4
1978-79	दूध	1,27,982.00	1,30,809.00
	दाना	6,355.00	6,974.00
	अन्य	140.00	104.00
1979-80	दूध	1,82,654.00	1,88,598.00
	दाना	1,453.00	1,089 00
1980-81	दूध	1,31,113.00	1,35,731.00
	दाना	3,415.00	3,921.00
	अन्य	482.00	482.00

समिति दुग्ध खरीद के साथ-साथ, कृत्रिम गर्भाधान की सुविधा तथा चिकित्सा सुविधा भी उपलब्ध कराती है। समिति अपने सदस्यों को बाजार भाव से सस्ता दाना देती है इसके साथ पशु-चिकित्सक की सेवायें भी कम फीस पर उपलब्ध कराती है। इस प्रकार डेयरी विकास को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से सरकार ने समिति के माध्यम से कुछ सेवायें उपलब्ध कराई हैं लेकिन फिर भी दुग्ध सहकारी समिति में दूध की आवक कम है। अधिकांश दूध खुले बाजार में जाता है। बहादुरपुर स्थित चाय एवं मिठाई की दूकानों के अतिरिक्त पास के

कस्बों एवं शहरों में भी यहां से दूध जाता है। समिति में दूध कम आने के मुख्य कारण ये बताये गये - (क) खुले बाजार में अधिक कीमत मिलती है (ख) समिति में मिलने वाली सुविधायें नाम मात्र की हैं। (ग) पशु चिकित्सक की सुविधा एक आकर्षण है लेकिन सदस्यों को इसकी चालू व्यवस्था से पूर्ण संतोष नहीं है।

सिसनी

इस गाँव में मात्र ग्राम सेवा सहकारी समिति है जिसकी स्थापना 1960 में हुई थी। यह समिति अभी निष्क्रिय (कर्ज का चुकारा न करने के कारण) पड़ी है। करीब 600 सदस्य हैं। समिति की कार्यकारिणी का चयन 1970 में हुआ था। इसके बाद अभी तक चुनाव नहीं हुआ। प्राप्त जानकारी के अनुसार समिति का 5 लाख रुपया सदस्यों में बाकी है। वसूली का प्रयास किया जा रहा है लेकिन गति इतनी धीमी है कि निकट भविष्य में इसके सामान्य स्थिति में आने की उम्मीद नहीं है। पिछले तीन वर्षों में प्रति वर्ष करीब 12 प्रतिशत कर्ज वसूल हो पा रहा है। गांव के लोगों ने बताया कि वर्तमान कानून के अनुसार जब तक 60 प्रतिशत कर्ज वापस नहीं होता तब तक किसी भी सदस्य को कर्ज नहीं मिलता। जिसने कर्ज वापस कर दिया उसे भी कर्ज नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में लोग इसलिए भी समय पर कर्ज नहीं चुकाते क्योंकि वे यह जानते हैं कि जबतक और लोग कर्ज वापस नहीं करेंगे, उनके चुकाने पर भी पुनः कर्जा नहीं मिल सकेगा। इस मनोवृत्ति ने सहकारी समितियों के कार्य को बाधित किया है।

तसीमों :

इस गांव की ग्राम सेवा सहकारी समिति भी कर्ज वसूल न कर पाने के कारण निष्क्रिय है। वर्ष 1976 के बाद कर्ज की रकम 1.28 लाख हो गई और वसूली नहीं हो पाई। फलस्वरूप अगले वर्ष कर्ज नहीं मिला। एक बार कर्ज मिलना बन्द होने पर वसूली भी बाधित होती है। समिति कर्ज देने के साथ-साथ अन्य उपभोक्ता सामग्री एवं कन्ट्रोल की चीजों की बिक्री करती है। यहां की समिति इस समय यह कार्य कर रही है। गाँव के लोगों का कहना है कि समिति के पास घटिया सामान होने के कारण भी समिति की दूकान से सामान खरीदने के प्रति लोगों की अरुचि है। उदाहरण के लिए यहां मिलने वाला रासायनिक खाद पुराना एवं खराब है, अतः अधिकांश सदस्य खरीदना पसन्द नहीं करते। गाँव के लोगों की राय में ग्राम सेवा सहकारी समिति को सही ढंग से चलाने के लिए कई कानूनी पेचीदगियों को सरल करना होगा। जैसे जिस सदस्य पर कर्ज बकाया नहीं हैं, उसे कर्ज मिलने में कठिनाई नहीं आनी चाहिये। कर्ज वसूली पर जोर दिया जाय और प्रभावशाली लोगों से कर्ज वसूली

के लिये विशेष प्रयास किया जाय। एक सदस्य की राय थी कि—'कई बार सरकारी कर्मचारी इस कार्य में बाधक होते हैं। ऐसे उदाहरण भी हैं जिसमें सदस्यों में जागरूकता की कमी के कारण कुछ लोग अपना स्वार्थ साधने लगते हैं। इस स्थिति से मुक्ति का रास्ता नहीं दिखाई देता है।'

थून

थून ग्राम सेवा सहकारी समिति पिछले 6 वर्षों से बन्द है। समिति के कुल 125 सदस्यों में 42 सदस्यों पर 1.50 लाख रुपया बकाया है। इसमें से 1 लाख रुपया तो ब्याज का ही शामिल है। 50 हजार रुपये मूलधन है। पुराना कर्ज वापस नहीं होने के कारण नया कर्ज नहीं मिलता। यहां की समिति की जो स्थिति पाई गई उससे स्पष्ट होता है कि कुछ व्यक्तियों ने अधिक कर्ज ले लिया है और उसे वापस नहीं करने के कारण सबको नुकसान हो रहा है। गांव के लोगों ने प्रश्न उठाया कि इसका क्या उपाय है जब कुछ लोग समिति पर हावी हो जाते हैं और उसके कारण काम बन्द हो जाता है। देखा यह गया है कि प्रशासन भी प्रभावशाली लोगों को ही सहारा देता है। ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी समिति की सक्रियता की स्थिति पर विचार करने पर यह बात सामने आई कि सदस्यों में से कुछ सदस्य ही सक्रिय रहते हैं। करीब 50 से 60 प्रतिशत सदस्य (एक बार सदस्य बनने के बाद) इस कार्य में रुचि नहीं लेते पाये गये। यहां तक कि बैठकों में भी नहीं आते हैं। मात्र 10–15 प्रतिशत सदस्य सक्रिय पाये गये जबकि 15–20 प्रतिशत सदस्य ऐसे निकल जाते हैं जो कर्ज वापस करने का मानस नहीं रखते। वे किसी भी प्रकार से कर्ज नहीं देने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग सत्ता एवं सम्पत्ति के प्रभाव का इस्तेमाल करके कर्ज चुकाने में सहूलियत पा लेते हैं और कानूनी कार्यवाही से बच जाते हैं।

विराटनगर

ग्रामीण परिवेश में बसे विराटनगर कस्बे में 6 सहकारी समितियां गठित हुईं। इनमें से एक मात्र ग्राम सेवा सहकारी समिति सक्रिय रही। वह भी कई बार निष्क्रिय रह चुकी है। समिति के 600 सदस्यों में से 300 सदस्य विराटनगर के हैं और शेष पास के गांव सोढाना एवं कुहाड़ के हैं। प्राप्त जानकारी के अनुसार 1979 से पहले समिति निष्क्रिय पड़ी थी। इसके बाद पुनः सक्रिय हुई। इस समय वह किसानों को कर्ज देने के साथ-साथ अन्य कार्य भी करती है। समिति के पास सदस्यों से प्राप्त शेयर के रूप में कुल 30,000) रु. जमा हैं। वर्ष 1982 में 1,15,000) रु. का कर्ज किसानों को दिया गया है। समिति ने पिछले दो वर्षों में जिस सक्रियता से कार्य किया है, उससे सदस्यों में उसके काम के प्रति उत्साह पैदा हुआ है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार वर्ष

1980–81 एवं 1981–82 में करीब 75 प्रतिशत कर्ज वापस हुआ। समिति के नव-निर्वाचित (1981) अध्यक्ष एवं मन्त्री तथा कार्यकारिणी के सदस्य सक्रिय पाये गये। वे सदस्यों को कर्ज वापसी के लिए प्रेरित करते रहते हैं। यहां यह बात सामने आई कि यदि समिति का व्यवस्थापक एवं अध्यक्ष-मन्त्री सक्रिय हैं तथा सही काम करने का प्रयत्न करते हैं तो कार्य तेजी से आगे बढ़ता है।

विराटनगर की अन्य सहकारी समितियों के बारे में खास जानकारी नहीं मिल सकी। कृषि सहकारी समिति सामूहिक खेती के उद्देश्य से बनी थी लेकिन वह नहीं चल सकी। इसी प्रकार बुनकर सहकारी समिति भी अपना कार्य आगे नहीं बढ़ा सकी।

कठिनाइयां

कानूनी सहकारी समितियों के बारे में प्राप्त जानकारी के विश्लेषण से यह तथ्य सामने आया कि अधिकांश सहकारी समितियां सफलतापूर्वक नहीं चल रही हैं और गिनी-चुनी समितियों को छोड़ दें तो अधिकांश निष्क्रिय हैं। सर्वेक्षित गाँवों के लोगों ने अपने अनुभव पर से सहकारी समितियों के सामने आने वाली जो बाधायें बताईं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

1. सहकारी समितियों की निष्क्रियता के कारणों के बारे में हुई चर्चा के दौरान समिति के एक सदस्य का कहना है, 'जिस सहकारिता की बात हम करते हैं, उसमें सहकार कहां है। जब तक सहकार का मन नहीं बनेगा, तब तक सहकारी समिति कैसे चलेगी ? मैं देखता हूं कि जिस समिति का मैं सदस्य हूं, उसके सदस्यों में आपसी सहकार का मानस ही नहीं है।' शिक्षा की दृष्टि से सामान्य पढ़े-लिखे इस व्यक्ति ने अपने अनुभव पर से बताया कि 'दिन-प्रतिदिन' सहकार कम होता जा रहा है। यदि सहकार की भावना बढ़ सके तो समिति का कार्य आगे बढ़ सकता है।
2. कानूनी उलझनें—ग्रामीण क्षेत्र की समिति के सदस्यों की जो शैक्षणिक स्थिति है, उनमें कानूनी पेचीदगियाँ, कठिनाई पैदा करती पाई गई। सर्वेक्षण के दौरान यहां तक पाया गया कि समिति का अध्यक्ष निरक्षर है तथा सहकारी नियम कानून की जानकारी नहीं रखता। इस स्थिति में इस कार्य को समझने की कठिनाई आती है। इसके अतिरिक्त कई ऐसे नियम भी हैं जिनके कारण सदस्यों को पूरा लाभ नहीं मिलता। उदाहरण के लिए यह नियम कि 60 प्रतिशत वसूली के बाद ही समिति को बैंक से कर्ज मिलेगा। ऐसी स्थिति में जो सदस्य पूरा कर्ज चुका देता है उसे भी अन्य सदस्यों के कर्जा नहीं चुकाने के कारण कर्ज नहीं मिलता।

समिति में आर्थिक गड़बड़ी होने पर उसकी जांच तथा अन्य खानापूर्ति में काफी समय लगता है।

3. सदस्यों की निष्क्रियता—जब तक सहकारी समिति का हर सदस्य सक्रिय नहीं होगा, तब तक समिति अपने कार्य में सफल नहीं हो सकती। सदस्य तभी सक्रिय होगा जब उसे इस कार्य में लाभ दिखाई देगा। अतः समिति को ऐसे कार्य हाथ में लेने चाहियें जिसका लाभ समिति के सभी सदस्यों को मिल सके। लेकिन यदि सदस्य के मन में लाभ लेकर बैठ जाने की बात हो तो फिर समिति का काम आगे नहीं बढ़ पायेगा। आज ऐसा ही हो रहा है। तसीमों गांव के एक शिक्षक ने जो कि ग्राम सेवा सहकारी समिति में सदस्य भी है, उक्त बातें कहीं और इसे समिति की मुख्य समस्या माना। देखा यह जाता है कि कर्ज मिलने के बाद सदस्य समिति के संपर्क में नहीं रहता। समिति का और सदस्य का निरन्तर संपर्क सूत्र बना रहे, इसका रास्ता खोजना होगा। एक सदस्य ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा, 'यह नहीं समझें कि पढ़े-लिखे सदस्य अधिक सक्रिय या अधिक समझदार होते हैं। उसने कई उदाहरण दिये जिसके अनुसार पढ़े-लिखे सदस्यों, समिति के कर्मचारी एवं पदाधिकारियों ने अपने स्वार्थ के लिए आर्थिक गड़बड़ियां कीं। वहां सभा में उपस्थित शिक्षित समुदाय इस राय का खण्डन नहीं कर सका।

4. आर्थिक गड़बड़ी—यह भी शिकायत पाई गई कि समिति में हिसाब सही नहीं रखने तथा गबन के कारण समिति के प्रति सदस्यों की आस्था में कमी आती है। मैनेजर, अध्यक्ष, मन्त्री, कोषाध्यक्ष आदि पर आर्थिक गड़बड़ी के आरोप लगाये जाते हैं। यह भी कहा गया कि इसकी जांच में बहुत समय लगता है और जांच होने के बाद भी कारवाई नहीं हो पाती है।

संदर्भ

1. समिति से प्राप्त जानकारी के अनुसार ।

6

बदलाव और बाधायें

परम्परागत सहकार (सहयोग) : वर्तमान स्थिति एवं बदलाव की दिशा

परम्परागत सहकारिता के कुछ रूपों का ऊपर उल्लेख किया गया है। सर्वेक्षित गांवों में परम्परागत सहकारिता की मौजूदा स्थिति एवं बदलती परिस्थिति पर विचार करना उपयोगी रहेगा। यह स्पष्ट है कि परम्परागत सहकारिता की जड़ें धीरे-धीरे कमजोर होती जा रही हैं। कई क्षेत्रों में तो इसकी यादभर रह गई है। हमने यह देखने का प्रयास किया है कि इस समय परम्परागत सहकारिता किस सीमा तक है तथा तुलनात्मक दृष्टि से आज से 20–25 वर्ष पूर्व तक इसकी क्या स्थिति थी। इस बात का भी अनुमान लगाने का प्रयास किया गया कि सहकारिता से कार्य पूरा करने पर व्यक्तिगत स्तर पर कार्य करने की तुलना में कितनी बचत होती थी। विश्लेषण से इस बारे में भी जानकारी मिली कि परम्परागत सहकारिता के लाभ की जानकारी होने के बावजूद अब उसमें ह्रास क्यों होता जा रहा है?

सामान्यतः ल्हास का आमंत्रण उन्हीं कार्यों के लिए किया जाता है जो पिछड़ जाता है और उसे पूरा करने के लिए अधिक श्रमशक्ति की आवश्यकता होती है। सिसनी एवं तसीमों के किसानों की राय में आमतौर पर मौसम में कार्य पिछड़ने पर ल्हास आमंत्रित किया जाता है। अलवर, भरतपुर, धौलपुर के गांवों में इसकी परम्परा प्रचलन में पाई गई। उत्तरदाताओं ने ल्हास के मुख्य चार लाभ बताये—(क) आर्थिक बचत—उदाहरण के लिए कुंआ खुदाई में लगने वाले खर्चे की बचत (ख) कार्य में शीघ्रता (ग) स्वेच्छा से कार्य करने के कारण कुशलता आती है, काम अच्छा होता है और (घ) असमर्थ को सहारा मिलता है।

ल्हास पद्धति से कार्य संपादन करने पर अनुमानतः कितनी आर्थिक बचत होती है इसका सही आंकलन कठिन है। इसका एक मुख्य कारण यह है

कि इस समय ल्हास का प्रचलन काफी कम है। दूसरे, जिन दिनों इसका अधिक प्रचलन था उन दिनों मुद्रा का व्यवहार कम था, श्रम-प्रधान कार्य अधिक प्रचलित था। गांव के लोगों ने बचत को इस रूप में स्पष्ट किया कि कुंआ खुदाई, खेत जुताई, फसल कटाई यदि एक व्यक्ति या परिवार के स्थान पर सामूहिक रूप से करें तो समय-शक्ति काफी बचती है और उस पर नाश्ता-भोजन का नाम मात्र का खर्च होता है। जयपुर, अलवर एवं भरतपुर जिले के सर्वेक्षित गांवों के उत्तरदाताओं ने इस बारे में जो अंदाज बताये उस पर से यह कहा जा सकता है कि ल्हास पद्धति से कुंआ खुदाई का कार्य करने पर 30 से 60 प्रतिशत की आर्थिक बचत होती है। जुताई कार्य में यह बचत 50 से 70 प्रतिशत और फसल कटाई में तो 50 से 80 प्रतिशत तक आंकी गई। बचत कितनी होगी यह कई बातों पर निर्भर करती है जैसे कुंए का निर्माण कच्चा है या पक्का, कितने लोगों ने श्रम किया, भोजन आदि पर कितना खर्च किया गया आदि।

उत्तरदाताओं ने यह आम राय व्यक्त की कि ल्हास की परम्परा से लाभ होते हुए भी अब यह प्रायः समाप्त होती जा रही है। इसके कारणों की खोज करने के प्रयास में कई प्रकार की जानकारी सामने आई। सिसनी, थून, तसीमों में ल्हास की पद्धति एक सीमा तक आज भी पाई जाती है, लेकिन जयपुर के आस-पास तो इसकी यादभर रह गई है। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो आज से 35–40 वर्ष पूर्व की तुलना में यह परम्परा दूरस्थ गांवों में 30–40 प्रतिशत आज भी कायम है। सिसनी, तसीमों में सर्वेक्षित वर्ष 1982–83 में ल्हास के 4–5 उदाहरण पाये गये। उदाहरण फसल, कटाई, जुताई तथा मेड़बन्दी के थे। एक उदाहरण कुंआ खुदाई का भी पाया गया। धौलपुर क्षेत्र में मेड़बन्दी की परम्परा आज भी कायम है।

गांव के लोगों ने ल्हास की परम्परा कम होने के कई कारणों की ओर ध्यान दिलाया जैसे—(क) व्यक्तिगत स्वार्थ एवं स्वयं के कार्य में व्यस्त रहना (ख) तकनीकी विकास के कारण पुरानी परम्परा का छूटना—जैसे, ट्रैक्टर, थ्रेसर, पानी के लिए इंजिन आदि के उपयोग का बढ़ना। फलस्वरूप हर कार्य में पैसा लिया जाने लगा। (ग) मुद्रा का व्यापक उपयोग एवं उसके प्रति मोह में वृद्धि (घ) सरकारी योजनाओं पर निर्भरता बढ़ने के कारण स्वयं की शक्ति एवं आपसी सहयोग से काम करने की मनोवृत्ति में कमी आई।

सिंचाई में चौथ एवं लांगरी की व्यवस्था में तो यहां तक परम्परा पाई गई कि आज से 20–25 वर्ष तक यदि किसी के पास अपना बैल नहीं होता तो लोग बिना किसी लेन-देन के पानी निकालने का कार्य कर देते थे। बैल

मांगकर जुताई कर लेने की परम्परा प्रचलन में थी। एक साथ कई चड़स का पानी खेत में जाने से सिचाई जल्दी होती थी। आज से 10–15 वर्ष पूर्व तक यह परम्परा कमावेश कायम थी, लेकिन अब गिनेचुने कुंओं पर ही यह परम्परा चलती है। इसके ह्रास के मुख्य कारण ये बताये गये—(1) सिंचाई में इंजिन, पम्प का उपयोग जिसमें पैसा लगता है। (2) सिचाई आय का माध्यम बना। जिसके पास इंजिन-पम्प है वह दूसरे का खेत सिंचाई करके लाभ कमाना चाहता है। (3) व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना का विकास।

दूरस्थ गांवों जैसे तसीमों, सिसनी, बहादुरपुर में 25–30 वर्ष पूर्व की तुलना में आज भी 10–15 प्रतिशत उदाहरण चौथ एवं लांगरी के मिलेंगे।

पशुपालन में सहकार का प्रचलन मुख्यतः दो रूपों में था—सांपा एवं सांड पालना। दोनों परम्पराएं कम होती जा रही हैं। रेगिस्तानी क्षेत्रों में तो आज भी स्वतन्त्र पशु चराई की अनुकूलता है। इस कारण इस कार्य में सहकार देखा जा सकता है। सर्वेक्षित क्षेत्रों में पशु चराई एवं सांड पालना दोनों परम्परायें नाम मात्र की रह गई हैं। सांड पालने की जिम्मेदारी ग्राम पंचायत की मान ली गई। जब सांड के प्रति प्रेमभाव भी कम हो गया है। उसे खाना नहीं देते, खेत में खुला चरना भी लोगों को पसन्द नहीं। पशु चराई में सहकार 20 वर्षों की तुलना में 10–15 प्रतिशत रह गया—उतना भी आपसी प्रेमभाव के कारण मौजूद है।

दस्तकार जातियों एवं कृषकों में आपसी सहकार की पुरानी परम्परा रही है। दोनों परस्पर पूरक रहे हैं। आपसी सहयोग एवं लेन-देन की इतनी ठोस परम्परा बन गई कि वह अलिखित कानून के रूप में सर्वमान्य थी। विभिन्न दस्तकारों को उनके कार्य के अनुसार किसान से अन्न प्राप्त होता है। आमतौर पर किसानों की आर्थिक स्थिति 'हल जोड़ी' की संख्या के आधार पर आंकी जाती है। भरतपुर में खाती को प्रतिहल सालभर (दो फसल मिलाकर) में 40 किलो अनाज मिलता पाया गया। कुम्हार को प्रतिहल पर 20 किलो और लुहार को 15 से 20 किलो वार्षिक मिलता है। चर्मकार का कार्य सीमित है। खेती में चरस तैयार करना मुख्य कार्य है। अतः उसे एक हल पर 10–15 किलो अनाज मिलता है। जूता आदि बनाना उसका स्वतन्त्र व्यवसाय है। मृत पशु उठाने के बदले प्रायः 10 किलो अनाज प्राप्त होता है। सामाजिक कार्यों में मदद करने वालों में नाई का प्रमुख स्थान है। सिसनी, तसीमों, बहादुरपुर में नाई को एक परिवार से प्रति फसल प्रतिहल जोड़ी 20 किलो अनाज मिलता पाया गया। सामाजिक कार्यों में 'जजमान' का प्रचलन है। लुहार, खाती, नाई, कुम्हार आदि निश्चत परिवारों से 'जजमानी' रूप में जुड़े रहते हैं। सामान्यतः

एक दस्तकार परिवार 25 से 60 कृषक परिवारों से जुड़ता पाया गया। प्राप्त तथ्यों के आधार पर एक दस्तकार परिवार को 'जजमानी' व्यवस्था से 12 से 15 क्विंटल अनाज तक प्रति वर्ष मिलता पाया गया।

पिछले दो दशकों में दस्तकार तथा किसान की परस्पर पूरकता में कमी आई है। इस कमी के कई कारण पाये गये। इनमें मुख्य हैं : (1) दस्तकार परिवार स्वतन्त्र रहकर अपना धन्धा करने पर अधिक आय प्राप्त कर लेता है। दस्तकार जातियां गांव से बाहर जाकर अपना धन्धा करने लगी हैं। जैसे—खाती, लुहार तथा चर्मकार गांव से बाहर जाने में रुचि रखते हैं। इस स्थिति में परम्परागत व्यवस्था टूटती है (2) किसान खुले बाजार के माध्यम से कार्य कराने लगा है (3) दस्तकार कृषक परिवार के बन्धन में नही रहना चाहता है (4) इस व्यवस्था में आई कमी को देखते हुए यह कहने की स्थिति में हैं कि इस समय, आज से दो दशक पूर्व की तुलना में केवल 15 से 20 प्रतिशत परिवारों में ही इस प्रकार का सहकार कायम है। शेष परिवार स्वतन्त्र रूप से कार्य कराते है।

सामाजिक कार्यों एवं दैनिक जीवन के व्यवहार में सहकार की परम्परा में भी काफी ह्रास हुआ है। अनुमान लगाने के लिए 60 वर्ष से अधिक उम्र के लोगों से विस्तार से चर्चा की गई। चर्चा के बाद इस बात का आंकलन करने का प्रयास किया गया कि 20–25 वर्ष पूर्व की तुलना में सामाजिक एवं दैनिक कार्यों में आपसी सहकार किस सीमा तक कम हुआ है या आज किस सीमा तक कायम है। विभिन्न कार्यों में तुलनात्मक दृष्टि से वर्तमान स्थिति का अंदाज नीचे अनुसार लगाने का प्रयास किया गया :

सारणी संख्या 6 : 1

सामाजिक कार्यों में सहकार का बदलता स्वरूप

कार्य	20–25 वर्ष पूर्व की तुलना में सहकार की वर्तमान स्थिति का प्रतिशत		
	जयपुर	अलवर	भरतपुर
1	2	3	4
1. मकान निर्माण (पट्टी या छप्पर चढ़ाना, ईंट लगाना)	50–70	60–70	60–80
2. पानी लाना	20–25	15–20	10–15
3. उपयोग की वस्तुएं शहर से गांव में मंगाना	10–15	15–20	10–15

1	2	3	4
4. यातायात साधनों का उपयोग	40–50	45–50	50–60
5. विवाह-आतिथ्य	10–15	10–15	30–40
साधन देना	20–30	25–35	30–40
अन्य सहयोग	15–20	20–25	25–30
6. मृत्यु में आर्थिक मदद	15–20	20–25	30–40
अन्य	10–15	15–20	20–30
7. धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्य			
1. मंदिर, धर्मशाला निर्माण	40–50	50–60	50–60
2. भजन, सत्संग	20–25	50–60	50–60
3. त्यौहार	60–80	70–80	70–80

उक्त तथ्यों से यह वात स्पष्ट रूप से सामने आई कि परम्परागत सहकार में काफी कमी आई है। आजादी के वाद के आये परिवर्तनों में पर दृष्टिपात करते हैं तो यह कहने की स्थिति में होते हैं कि 1950–51 के वाद 30 वर्षों में परम्परागत सहकार मात्र 10 से 20 प्रतिशत रह गया है। इस कमी के कारणों की तलाश अपेक्षित है। कुछ कारणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। गांव के लोग कारणों को सूत्ररूप में गिनाते हैं और कहते हैं (क) हवा का रुख वदल गया है (ख) निजी स्वार्थ जम गया है (ग) जमाना वदल गया और मूल वात है (घ) नैतिकता एवं आपसी विश्वास नहीं रहा।

संक्षेप में इन कारणों को इस रूप में स्पष्ट कर सकते हैं :

1. शहरी जीवन पद्धति का विस्तार—इस कारण एकाकी जीवन जीने की मनोवृत्ति वढ़ी है।
2. व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना मजवूत होना।
3. उत्पादन के ऐसे सावनों का उपयोग वढ़ना जिनमें मुद्रा का व्यय अधिक होता है जिसके कारण उन साधनों के प्रयोग में सहकार घटा।
4. चुनाव के कारण गुटवन्दी एवं आपसी मनमुटाव वढ़ा। इस कारण आपसी मेलजोल एवं सहकार में कमी आई।
5. नैतिक मूल्यों का ह्रास।
6. परम्परागत दस्तकारों का ह्रास होने के कारण कृषि एवं दस्तकार की परस्पर पूरकता कम हो गई। उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन ने परम्परागत दस्तकारी को कम किया।

7. परम्परागत शोषण—परम्परागत सहकार की व्यवस्था में शोषण का अंश भी रहा है। जातीय संकीर्णता ने इस शोषण को बढ़ाया है। जातीय आधार पर ऊंच नीच एव अस्पृश्यता ने सामाजिक एवं आर्थिक दोनों प्रकार के शोषण को मजबूत किया है। इस व्यवस्था का विकास समाज रचना में परिवर्तन के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से होने के कारण शोषित समुदाय को शोषण का भान नहीं था। लेकिन बदलती परिस्थितियों, समाजवाद एवं लोकतांत्रिक मूल्यों के विस्तार ने शोषण के विरुद्ध जागरूकता पैदा की है। परिणामस्वरूप परम्परागत व्यवस्था में बंधा अस्पृश्य एवं पिछड़ा समुदाय उससे मुक्त होने का प्रयास करने लगा। इस प्रयास के कारण भी सहकार की परम्परागत व्यवस्था टूटी। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि परम्परागत सहकारिता में जातिगत संकीर्णता जैसी बुराई थी और इस बुराई ने परम्परागत सहकार की जड़ें कमजोर की हैं।

कानूनी सहकारिता : विस्तार एवं दिशा

भारत में कानूनी सहकारिता के विकास में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रमुख स्थान है। यूरोप में कानूनी सहकारिता के माध्यम से उपभोग, उत्पादन में व्याप्त शोषण एवं असमानता दूर करने का प्रयास किया जा रहा था। ब्रिटिश सरकार ने उसे भारत में भी प्रसारित करने का प्रयास किया। इसका प्रारम्भ किसानों को ऋण की सुविधा प्रदान करने, उपभोग वस्तुओं को उपलब्ध कराने, दस्तकारों को कच्चा माल उपलब्ध कराने एवं बाजार की सुविध प्रदान करने की दृष्टि से किया गया। मूल बिन्दु वित्तीय सुविधा प्रदान करना रहा ताकि आर्थिक शोषण से राहत मिले। इस प्रकार योरप में जन्मे, फूले-फले कानूनी सहकारिता रूपी इस वृक्ष को भारत में प्रसारित करने का प्रयास प्रारम्भ हुआ और उसे कानूनी मान्यता प्रदान की गई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सहकारिता योजना का प्रमुख अंग बन गई। राष्ट्रीय विकास परिषद् ने 1958 में सहकारिता के विभिन्न मुद्दों पर विस्तार से विचार किया और इसे व्यापक करने का निर्णय लिया। परिषद् ने यह मान्य किया कि (क) सहकारिता की प्राथमिक इकाई गांव को माना जाना चाहिए (ख) इस बात का प्रयास किया जाय कि सदस्यों में स्वतन्त्र चिंतन एवं स्वयं की शक्ति एवं भागीदारी की भावना से विकास कार्यों को हाथ में लेने की क्षमता विकसित हो। राज्य का मार्गदर्शन, सहायता एवं वित्तीय नियन्त्रण की बात भी मान्य किया गया (ग) गांव का प्रत्येक परिवार सहकारी समिति का सदस्य बने यह लक्ष्य रखा जाय (घ) ग्रामस्तर की स. स. सहकारी संघ से सम्बन्ध हों (च) सरकारी कर्मचारी ने

बजाय मानद सदस्य एवं पदाधिकारी की प्रमुख भूमिका हो (छ) सहकारिता के नियम सरल एवं सामान्य जन के समझने योग्य हों।

सैद्धांतिक रूप में उक्त बातों को मान्य करते हुए देश में कानून के माध्यम से सहकारिता को बढ़ाने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। सिद्धांतरूप में सहकारिता को पूर्णत: स्वैच्छिक, स्वतन्त्रता एवं समता पर आधारित माना गया, पर हम यह कहना चाहेंगे कि इन सिद्धांतों के आधार पर सहकारी आन्दोलन की समीक्षा और पुनर्गठन नहीं किया जा सका है। वह पुराने तौर-तरीकों और भावना के अनुसार ही चल रहा है। इसी परिपेक्ष में 1974 में सहकारिता मन्त्रियों के सम्मेलन में सहकारिता के निम्नलिखित तत्वों की पुष्टि की गई और कहा गया कि कानूनी सहकारिता में (1) खुली एवं स्वैच्छिक सदस्यता होनी चाहिए (2) लोकतांत्रिक नियंत्रण (3) सीमित लाभ (4) लाभ का समान वितरण (5) सहकारिता की भावना का प्रशिक्षण और (6) सहकार की भावना होनी चाहिए।

राजस्थान में कानूनी सहकारिता के विकास के व्यापक प्रयास किये गये हैं। उत्पादन, उपभोग, बाजार आदि सभी क्षेत्रों में सहकारी समितियां एवं संघ कार्यरत हैं। संगठनात्मक दृष्टि से देखें तो राज्य की सहकारी संस्थाओं को मोटे रूप में इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है :

1. प्राथमिक सहकारी समितियाँ
2. सहकारी संघ
3. सहकारी मिलें
4. एपेक्स तथा अन्य सहकारी बैंक

राज्य में सहकारी संस्थाओं के विस्तार की जो स्थिति है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रामस्तर पर प्राथमिक सहकारी समितियों में साख सहकारी समितियाँ, जिसे ग्राम सेवा सहकारी समिति के नाम से जाना जाता है, उनका विस्तार अधिक हुआ है। राज्य में कुल सहकारी संस्थाओं की संख्या 18122 (1981–82) है। इनमें सर्वाधिक संख्या प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों की 5205 है। दुग्ध उत्पादक सहकारी समितियों की संख्या 2164, उद्योग सहकारी समितियाँ 1296 और भवन निर्माण सहकारी समितियां 1562 पाई गईं। गैर कृषि साख सहकारी समितियों की संख्या भी 952 है तथा भेड़-ऊन पालक सहकारी समितियाँ 575 पाई गईं। श्रमिकों की ठेका के लिए गठित सहकारी समितियाँ 871 तथा बुनकर सहकारी समितियाँ 447 हैं। इसके अतिरिक्त सिंचाई, भण्डारन व उत्पादन, यातायात, कृषि प्रशोधन, मुर्गी-पालन आदि कार्यों के लिए भी सहकारी समितियाँ गठित की गई हैं।

सहकारी समितियां किस सीमा तक कार्यरत हैं इस सम्बन्ध में विचार करना उपयोगी रहेगा। ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत सहकारी समितियों में ग्राम सेवा सहकारी समितियां मुख्य हैं जिसे प्राथमिक कृषि साख सहकारी समिति भी कहते हैं। इस श्रेणी की 5205 समितियों की कुल सदस्य संख्या 33.90 लाख है। इनमें से 20.46 प्रतिशत अ. जाति के तथा 16.04 प्रतिशत अ. ज. जा. (एस, टी.) के हैं शेष 63.50 प्रतिशत अन्य जातियों के सदस्य हैं। समितियों की कुल संख्या में से 38 प्रतिशत सदस्यों को समिति से लाभ मिला। शेष 62 प्रतिशत को किसी प्रकार का लाभ नहीं मिल सका। राज्य में केन्द्रीय सहकारी बैंक 25, ग्राम विकास सहकारी बैंक 35, एपेक्स सहकारी संघ 16, कताई मिलें 3 हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में वसने वाले कुल पपिवारों में स. स. के सदस्यों का अनुपात निकालें तो इनका प्रतिशत 25 आता है।

ग्राम सेवा सहकारी समितियां आमतौर पर कृषि कार्य के लिए अल्पकालीन ऋण देती हैं। कुल अल्पकालीन ऋण में से 71.58 प्रतिशत ऋण बीज, खाद के लिए दिया गया जबकि 28.39 प्रतिशत कृषि साधन (हल, चरस आदि) खरीदने के लिए दिया गया। इन समितियों द्वारा 11.32 प्रतिशत मध्यकालीन ऋण पशु खरीद के लिए दिया गया। ग्राम सेवा सहकारी समितियां आमतौर पर उनको मदद करती हैं जिनके पास कृषि भूमि है। लाभान्वितों में लघु एवं सीमांत कृषक अधिक हैं—1 से 2 हैक्टर के लाभान्वितों को प्रतिशत 20.17 तथा 2 से 4 हैक्टर का 24.83 प्रतिशत है। जबकि 1 हैक्टर से कम भूमि वाले लाभान्वित मात्र 9 प्रतिशत हैं।

ग्रामीण दस्तकारों को प्रोत्साहित करने के लिए परम्परागत दस्तकारों को सहकारिता के आधार पर संगठित करने का प्रयास किया गया। लेकिन इस दिशा में प्रगति उत्साहवर्धक नहीं रही। कुल 440 बुनकर सहकारी समितियों में 88.86 प्रतिशत समितियां बन्द हैं। कुल में से मात्र 32 समितियां लाभ में चल रहीं हैं। प्रायः यही स्थिति औद्योगिक सहकारी समितियों की भी है—कुल औद्योगिक सहकारी समितियों में से 90.50 प्रतिशत बन्द हैं। हाल के वर्षों में दुग्ध सहकारी समितियों का गठन बड़े पैमाने पर हुआ है। इनकी सफलता भी तुलनात्मक दृष्टि से अच्छी मानी जा सकती है। 1980–81 में कुल दुग्ध उत्पादक सहकारी समितियों की संख्या 2164 थी जिनमें से 39.87 प्रतिशत समितियां लाभ में थीं और 22.65 प्रतिशत घाटे में चल रही थीं। उनमें भी 38 प्रतिशत समितियां बन्द थीं। कृषि कार्य सामूहिक रूप से करने की दृष्टि से कृषि सहकारी समितियां गठित की गई। लेकिन इस कार्य में सफलता नहीं मिल

सकी। कुछ 338 कृषि सहकारी समितियों में से 333 घाटे में हैं। मात्र 5 लाभ में वताई गई हैं। ये समितियां अपनी भूमिका का पूरा उपयोग भी नहीं कर पा रही हैं। इनके पास कुल 29291 एकड़ जमीन है जिसमें से मात्र 297 एकड़ में खेती होती है। इसी प्रकार भूमि सुधार कार्य में मदद के लिए गठित भूमि विकास वैंकों की संख्या 35 है जिनकी 122 शाखायें तथा सदस्य संख्या 3,99,815 है। इनमें से मात्र 6.00 प्रतिशत सदस्यों को लाभ मिला है।[2]

सहकारी समितियों की वर्तमान स्थिति एवं दिशा को समझने के लिए सर्वेक्षित गाँवों में स्थित कानूनी सहकारी समितियों के वारे में जानकारी प्राप्त की गई। इन गांवों की सहकारी समितियों के कार्यों, कठिनाइयों तथा सफलता-असफलता के वारे में गांव के लोगों से चर्चा के वाद जो तथ्य सामने आये उसके आधार पर आगे सोचा जा सकता है। सर्वेक्षित गांवों में से कानोता (जयपुर) में सबसे अधिक, पांच सहकारी समितियां हैं। ग्राम सेवा सहकारी समिति के अतिरिक्त दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति, वुनकर सहकारी समिति, श्रमिक ठेका एवं खाती सहकारी समिति है। वहादुरपुर (अलवर) में ग्राम सेवा सहकारी समिति के अतिरिक्त दुग्ध उत्पादक एवं वुनकर सहकारी समिति है। सिसनी, थून एवं तसीमों (भरतपुर-धौलपुर) में केवल ग्राम सेवा सहकारी समिति है। विराटनगर में पाँच समितियाँ हैं। ग्राम सेवा सहकारी समिति के अतिरिक्त श्रमिक ठेका, कृषि, वुनाई एवं गृह-निर्माण के लिए सहकारी समितियाँ हैं।

सर्वेक्षित गाँवों में गठित सहकारी समितियों की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि ग्राम सेवा सहकारी समिति के अतिरिक्त अन्य प्रकार की समितियों का कार्य प्रायः वन्द है। कार्यरत समितियों में दूसरा स्थान दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति है जो कि कमोवेश चल रही है। कानोता में केवल ग्राम सेवा सहकारी समिति नियमित रूप से किसानों को अल्पकालीन ऋण देती पाई गई। यहां की दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति में इस कारण दूध नहीं आता या कम आता है क्योंकि जयपुर शहर नजदीक है और उत्पादक सीधे वेचने में अधिक लाभ प्राप्त करता है। 20 वर्ष पूर्व स्थापित खाती सहकारी समिति पूर्णतया वन्द है, यही स्थिति श्रम ठेका सहकारी समिति की है। वुनकर सहकारी समिति को 1980 में पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया लेकिन सदस्यों की आपसी गुटवन्दी एवं आर्थिक गड़वड़ियों के कारण कार्य आगे नहीं वढ़ सका। वहादुरपुर में ग्राम सेवा सहकारी समिति एवं दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति कार्यरत हैं, लेकिन 1946 में स्थापित वुनकर सहकारी समिति का कार्य

वन्द है। यहां की दुग्ध उत्पादक सहकारी समिति के मात्र 25 प्रतिशत सदस्य समिति को दूध देते हैं, अन्य सदस्य सीधे गांव में या पास के बाजार में दूध बेचते हैं। सिसनी एवं तसीमों (भरतपुर-धौलपुर) की ग्राम सेवा सहकारी समिति इस समय निष्क्रिय है। सिसनी की समिति में 600 सदस्य हैं और यहां की कार्य-कारिणी का चुनाव 1970 में हुआ था। सदस्यों में 5 लाख रु. बकाया है। बकाया होने के कारण कार्य रुक गया है। यही स्थिति तसीमों की है—जहां कर्ज बकाया होने के कारण कार्य रुक गया है। थून की ग्राम सेवा सहकारी समिति के 42 सदस्यों में 1.50 लाख रु. बाकी हैं। कुल सदस्य 125 हैं लेकिन बकाया होने के कारण अन्य सदस्यों को भी लाभ नहीं मिल पा रहा है। विराटनगर की ग्राम सेवा सहकारी समिति कार्यरत है। यहां की समिति के 600 सदस्य हैं। समिति के पास शेयर के रूप में 30,000) रु. जमा हैं। वर्ष 1982 में 1.15 लाख रु. किसानों को कर्ज दिया गया। वर्ष 1980–81 के कर्ज में से 75 प्रतिशत कर्ज वापस आ गया। इस प्रकार यहां की ग्राम सेवा सहकारी समिति को सक्रिय माना जा सकता है। लेकिन विराटनगर की अन्य सहकारी समितियां सक्रिय नहीं हैं। बुनकर, श्रमिक ठेका तथा कृषि सहकारी समिति वर्षों से बन्द पड़ी हैं।

कानूनी सहकारिता की बाधाएं

राजस्थान में विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों की संख्या उनमें सक्रिय एवं निष्क्रिय समितियों की स्थिति, लाभान्वितों की स्थिति, सर्वेक्षित गांवों में सहकारी समितियों की वर्तमान स्थिति को देखते हुए इस प्रश्न पर जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया गया कि सहकारी समितियों के सक्रिय न होने के क्या कारण हैं तथा समिति के सामने किस प्रकार की बाधाएं हैं। सर्वेक्षण के दौरान जो जानकारी प्राप्त हुई उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :

1. सहकार की भावना की कमी—चर्चा के दौरान सदस्यों ने कहा, जिस सहकारिता की बात करते हैं उसमें 'सहकार' कहां है। जब तक सहकार का मन नहीं बनेगा तब तक सहकार समिति कैसे चलेगी। सहकार की भावना क्रमशः कम होती जा रही है।
2. सदस्यों की निष्क्रियता—यह पाया गया कि सदस्य समिति के कार्यों में रुचि नहीं लेते। बैठकों में नहीं आते हैं। इसका यह भी कारण है कि सभी सदस्यों को लाभ नहीं मिलता। इस कारण भी रुचि नहीं रहती।
3. कानूनी पेचीदगियां—गांव में आज भी शिक्षा की कमी है, इस कारण सहकारिता कानून के नियमों की जानकारी सदस्यों को नहीं रहती, इस

कारण वे कार्य के प्रति जागरूक नहीं रह पाते हैं। कई ऐसे कानून हैं जिनसे काम रुक जाता है। जैसे एक नियम के अनुसार 60 प्रतिशत कर्ज वसूली के विना किसी को भी नया कर्ज नहीं मिलता। इस स्थिति में कर्ज वापस करने वाले सदस्य भी नया कर्ज लेने से वन्चित रह जाते हैं।

4. प्रभावशाली लोगों का दवाव—उत्तरदाताओं ने प्रत्यक्ष उदाहरण देकर वताया कि प्रभावशाली सदस्य समिति से गलत लाभ उठाने का प्रयास करते हैं। ये लोग कर्ज वापस नहीं करते, प्रभाववश अधिक लाभ लेते हैं। इस कारण सामान्य सदस्य लाभ से वंचित रहते हैं। कर्ज नहीं वापस करने में भी प्रभावशाली लोग होते हैं।
5. आर्थिक गड़वड़ी—समिति के निष्क्रिय होने का एक वड़ा कारण आर्थिक अनियमितताएं हैं। यह पाया गया कि समिति के पदाधिकारी द्वारा आर्थिक अनियमितताएं होती हैं। उनकी जांच आदि की प्रक्रिया इतनी लम्वी एवं उलझी हुई है कि समस्या का समाधान होना कठिन हो जाता है। वहादुरपुर, कानोता, थून के लोगों ने स्पष्ट किया कि आर्थिक अनियमितताओं के कारण समिति वन्द हो गई।
6. शिक्षण एवं जागरूकता की कमी—सहकारिता का प्रशिक्षण सतत् चलने की आवश्यकता है। प्राथमिक सहकारी समिति के सदस्यों को सहकारिता के वारे में प्रशिक्षण देने के कार्यक्रमों का अभाव देखने में आया। सर्वेक्षित गांवों में किसी भी प्रकार का प्रशिक्षण कार्यक्रम होता नहीं पाया गया, हालांकि सहकारिता कार्यक्रम में प्रशिक्षण कार्यक्रम को सैद्धांतिक रूप में मान्य किया जा चुका है। लेकिन व्यवहार में यह पक्ष काफी कमजोर है। इस कारण सदस्यों में सहकारिता के प्रति जागरूकता का अभाव पाया गया। इसी कमी के कारण सहकारिता की कार्य-पद्धति, नियम आदि की जानकारी का भी अभाव रहता है।
7. सहकारिता में जन-भागीदारी की कमी इसके विकास में प्रमुख वाधा है।
8. सहकारी समितियों की असफलता के कुछ अन्य कारण भी देखने में आये जैसे—(क) सहकारिता आन्दोलन का राजनीतिकरण (ख) समितियों में सरकारी अधिकारियों, कर्मचारियों का प्रभुत्व (ग) कुशलता की कमी तथा (घ) लोकतांत्रिक मूल्यों का ह्रास।

राजस्थान में सहकारिता आन्दोलन से पुराना सम्वन्ध रखने वाले तथा सरकारी एजेंसी के माध्यम से सहकारी आन्दोलन की जड़ मजवूत करने वालों में अग्रणी श्री निरंजनसिंह (भ. पू. रजिस्ट्रार, राजस्थान) राज्य में सहकारी

ग्रान्दोलन की समीक्षा करते हुए कहते हैं 'कि सहकारिता में नौकरशाही का हस्तक्षेप बढ़ना इसकी प्रमुख बाधा है। सहकारी समितियों के निर्वाचित संचालक मण्डलों को बिना दोष बताये एवं दोषी ठहराये बरखास्त कर दिया गया। सहकारी ग्रफसरों को प्रशासक नियुक्त कर दिया ग्रौर बाद में सहकारी सिद्धांतों एवं मान्यताग्रों को ताक पर रखकर प्रशासकों को हटाकर राजनीतिक नेताग्रों को ग्रध्यक्ष नियुक्त कर दिया गया। उनकी राय में प्राथमिक स्तर पर सहकारी नेतृत्व का उदय नहीं हो पाया ग्रौर इसी कमी के कारण सहकारिता की जड़ें मजबूत नहीं हो सकीं। प्राथमिक स्तर पर नेतृत्व मजबूत न होने के मुख्य दो कारण हैं :

1. प्रारम्भ में सहकारी समितियों के सदस्यों, प्रबन्ध कारिणी सभा के सदस्यों एवं पदाधिकारियों को गांव में ही शिविर लगाकर सहकारी सिद्धान्तों, रीति-नीति सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी तथा ग्रधिकार एवं कर्त्तव्य का बोध कराया जाता था। लेकिन 1969–70 के बाद इस प्रकार का प्रशिक्षरण बन्द कर दिया गया। पुन: 1982–83 से प्रशिक्षण का कार्य-क्रम प्रारम्भ करने का प्रयास चल रहा है। लेकिन लम्बा ग्रन्तराल एवं सामान्य जन के मन में सहकारिता के प्रति उत्साह की कमी के कारण यह कार्य गति नहीं पकड़ रहा है।
2. दूसरा कारण नियमित चुनाव न होना है। नियमित चुनाव होने से नया नेतृत्व विकसित होता है, उत्साह कायम रहता है।

हाल के वर्षों में सहकारी समितियों का जो स्वरूप बन रहा है उसमें यह एक सरकारी कार्य हो गया है जिसका संपादन सरकारी कर्मचारी करता है। इसका कार्यक्षेत्र भी कर्ज उपलब्ध कराना मात्र रहा है। इसे प्राप्त करने की तीव्रता ग्रौर न चुकाने की होशियारी सहकारी समिति के सदस्य का प्रमुख गुण बन गई है। सहकारिता के कार्यक्रम में जन-भागीदारी एवं सहकारी जीवन पद्धति के ग्रभ्यास का तत्व प्राय: समाप्त हो गया है। कम पढ़ा-लिखा, ईमानदार, मेहनती ग्रौर कम 'होशियार' नागरिक का सहकारिता के प्रति कोई ग्राकर्षण नहीं है, क्योंकि वह उससे लाभान्वित नहीं हो सकता।

संदर्भ

1. समिति से प्राप्त जानकारी के ग्रनुसार।
2. कानूनी सहकारिता संबंधी ग्रांकड़े राजस्थान सरकार की रिपोर्ट, को-ग्रापरेटिव मूवमेंट इन राजस्थान, 1980–81 से लिये गये हैं।

7

उपसंहार

परम्परागत एवं कानूनी दोनों प्रकार की सहकारिता पद्धतियों के बदलते स्वरूप की विवेचना से यह बात सामने आती है कि इस समय दोनों सहकार पद्धतियां संक्रमण की स्थिति में हैं। परम्परागत सहकारिता की जड़ें मजबूत होते हुए भी वह तेजी से बदलती परिस्थिति का सामना करने की स्थिति में नही है। परम्परागत मूल्य बदल रहे हैं और आपसी विश्वास एवं समझदारी (Understanding) कम होती जा रही है। पाश्चात्य नमूने पर खडे किये गये समाजवाद एवं लोकतन्त्र के राजनैतिक ढांचे ने भी परम्परागत व्यवस्था के प्रति विश्वास को घटाया है। राजतन्त्र एवं साम्राज्यवाद की बुराइयों के स्थान पर भारतीय समाज रचना के अनुरूप राजनैतिक व्यवस्था का विकल्प अपनाने के बजाय हमने पाश्चात्य राजनैतिक ढांचे को स्वीकार कर लिया है। यही कारण है कि एक के बाद एक भारतीय समाज रचना की जड़ें हिलती जा रही हैं। परस्पर विश्वास एवं सहकार के जो भी परम्परागत मूल्य थे वे टूटते गये। संयुक्त परिवार, पड़ौसीहित, ग्राम समुदाय की एकता आदि सभी सामाजिक संस्थाएं टूटने लगीं। पिछले दो-तीन दशकों में ही इतना अधिक अन्तर आ गया है कि यह विश्वास नहीं होता कि गांव में आपसी सहकार की जड़ें इतनी गहरी भी थीं। इस टूटन के अनेक कारण रहे हैं: शहरीकरण के एकाकी जीवन का प्रभाव भी एक कारण है। लेकिन एक महत्वपूर्ण कारण तकनीक का प्रभाव है जिसके कारण उत्पादन पद्धति में परिवर्तन आया। कार्यों के प्रकार में भी वृद्धि हुई है। कल-कारखाने, नये-नये उद्योग-धन्धे, नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये धन्धों का विस्तार हुआ है। रोजगार के नये क्षेत्रों में उद्यमी व्यक्तिगत स्तर पर लगा। इनमें सहकार का रूप परम्परागत न हो कर नये ढंग का तथा उद्योग कम्पनी कानून के अनुसार विकसित हुआ जो कि वास्तव में सहकार न होकर प्रशासन की एक व्यवस्था है। कृषि तथा दस्तकारी में नई तकनीक के

उपयोग ने परम्परागत ढंग के सहकार की आवश्यकता को कम किया है। ट्रैक्टर, इंजिन, पम्प आदि यंत्रों के उपयोग से व्यक्तिगत स्तर पर कार्य करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसका एक कारण यह भी है कि इनकी प्राप्ति, उपयोग का ढंग, वित्तीय व्यवस्था आदि व्यक्तिगत पद्धति के अधिक अनुकूल है। उन यंत्रों के सहकारी उपयोग की व्यवस्था विकसित करने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया है।

योजनाबद्ध विकास के क्रम में विकास कार्यक्रमों को जिस रूप में लागू किया जा रहा है उसने भी परम्परागत सहकार को कमजोर किया है। आजादी के बाद आम नागरिक के मन में यह विश्वास बढ़ता गया कि विकास सम्बन्धी कार्य करने की जिम्मेदारी सरकार की है। सरकार द्वारा भी यही बात कही गई कि विकास के सभी क्षेत्रों में सरकार मदद करती है। परिणामस्वरूप हर कार्य के लिए सरकार पर निर्भरता बढ़ी है। सरकार के विभिन्न कार्यक्रमों में भी यह बात सामने आती है कि वह सभी प्रकार के कार्य में मदद करती है। इस परिस्थिति में यह अपेक्षा की जाने लगी कि गांव के विकास सम्बन्धी सभी कार्य सरकार करे। जो कार्य गांव के लोग आपसी सहकार से करते थे उसे सरकार द्वारा किया जाय, यह अपेक्षा की जाने लगी। कह सकते हैं, स्वयं की शक्ति से कुछ भी करने का वातावरण नहीं रहा। सहकारिता, पंचायतीराज के माध्यम से यह कहा गया कि इससे गांव की शक्ति बढ़ेगी, स्वयं कार्य करने की क्षमता एवं जन-भागीदारी बढ़ेगी। लेकिन व्यवहार में यह स्थिति बनी कि ग्राम-पंचायत एवं सहकारी संस्थाएं भी हर कार्य के लिए सरकार पर निर्भर रहने लगीं। बदलती परिस्थिति ने ग्रामीण जीवन में आपसी सहकार के प्रति आस्था कम किया है। परिणामस्वरूप गांव में आपसी सम्बन्धों में दूरी बढ़ी है। गांव परिवारों का समूह अवश्य है लेकिन गांव जीवन की एक इकाई नहीं बन पा रहा है।

सहकारिता आन्दोलन के माध्यम से उत्पादन एवं उपभोग में सहकार की व्यवस्था विकसित करने का प्रयास किया गया। देश के अन्य भागों की तरह राजस्थान में भी सहकारी समितियों, संघों एवं सहकारी वित्तीय एजेंसियों द्वारा सहकारिता को आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया। कृषि, दस्तकारी, उपभोग, दुग्ध उत्पादन एवं बिक्री आदि अनेक कार्यों के लिए सहकारी समितियां बनीं। लेकिन जैसा कि अध्ययन-विश्लेषण से स्पष्ट होता है कानूनी रूप से गठित सहकारी समितियों को सफलता नहीं मिल सकी। सहकारी समितियों में सहकार की भावना, कार्य की स्वप्रेरणा एवं जन-भागीदारी नहीं विकसित हो सकी। सहकारी समितियों के सामने अनेक बाधायें (Constraints) हैं जिनका समाधान नहीं हो सका। कहा जा सकता है इस समय जितनी भी सहकारी समितियां हैं, उनमें से लगभग आधी बन्द हैं और जो चल रही हैं वे मात्र ऋण देने एवं उपभोग

वस्तु उपलब्ध कराने का कार्य करती हैं। सहकारिता की ग्रात्मा सहकार की भावना एवं जन-भागीदारी मानी गई है वह नहीं है। इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि हम प्राथमिक स्तर पर सहकारी समितियों में नेतृत्व विकसित नहीं कर सके। सदस्यों को 'सहकार' के लिए प्रशिक्षित करने के बजाय सरकारी प्रशासक को काम सौंपते गये। परिणामस्वरूप ग्राज की सहकारी समितियां सरकारी विभाग की तरह कार्यरत हैं ग्रौर उनके संचालन में सहकारिता का मूल तत्व ही नहीं है। कानून के तहत समितियों के वित्तीय कार्य-कलापों की देखरेख, नियन्त्रण का प्रावधान है। सहकारी विभाग यह भी ग्रपनी जिम्मेदारी मानता है कि वह यह देखे कि समिति का कार्य नियमानुसार चले। इन नियंत्रणों की छाया में सहकारिता की ग्रात्मा लुप्त होती गई। वित्तीय नियन्त्रण की दृष्टि से कानून की उक्त धारायें उपयोगी हो सकती हैं लेकिन व्यवहार में उसकी दिशा ऐसी होनी चाहिए थी कि धीरे-धीरे 'सहकार' की भावना एवं व्यवस्था मजबूत हो ग्रौर 'नियन्त्रण' का बन्धन कम होता जाय। परन्तु हुग्रा उल्टा। नियन्त्रण बढ़ता गया। हम सदस्यों को शिक्षित नहीं कर सके, साथ सी साथ उन्हें इसके लिए भी सक्षम भी नहीं बना सके कि सहकारी समिति को बिना सरकारी नियन्त्रण के चला सकें। शायद हम इस दिशा में बढ़ना चाहते ही नहीं ग्रौर व्यवहारतः उसे सरकारी विभाग के रूप में ही चलाना चाहते हैं। स्थिति यह है कि सहकारिता ग्रान्दोलन ऐसे व्यूहचक्र में फंस गया कि उससे निकलना कठिन लगता है—शायद निकलना चाहते भी नहीं हैं।

दिशा

इस परिस्थिति में इस दिशा में सोचा जा सकता है कि क्या परम्परागत एवं कानूनी सहकारिता के बीच किसी प्रकार का ग्रापसी नजदीकी समन्वय संभव है जिससे समाज में सहकारिता की जड़ें मजबूत की जा सकें? यदि हां तो किस सीमा तक ग्रौर किस रूप में?

परम्परागत एवं विधि सम्मत सहकारिता के ग्रध्ययन से यह स्पष्ट है कि समाज व्यवस्था में सहकारिता की जड़ें गहरी एवं मजबूत रही हैं। समाज व्यवस्था के विकास एवं उसमें ग्राने वाले परिवर्तनों के ग्रनुसार सहकारिता के स्वरूप में परिवर्तन ग्रवश्य ग्राता रहा। हालके वर्षों में तकनीकी विकास, शहरी प्रभाव, पाश्चात्य ढंग के जीवन पद्धति के प्रभाव ग्रादि कारणों से परम्परागत सहकारिता में काफी कमी ग्राई है ग्रौर व्यक्तिगत स्तर पर कार्य करने कीप्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है। हालांकि समाज की, खासकर ग्रार्थिक दृष्टि से कमजोर समाज की सामाजिक एवं ग्रार्थिक परिस्थिति है कि उसे ग्रार्थिक कार्यों को सम्पादित करने के लिए शक्ति एव साधन के रूप में सहकार की ग्रावश्यकता है। गरीब व्यक्ति एकाकी स्तर पर ग्रार्थिक दृष्टि से मजबूत होने की क्षमता नहीं

रखता है। यदि आपसी सहकार से कार्य किया जाय तो प्रगति तेज हो सकती है। इस बात को स्वीकार करते हुए भी व्यवहार रूप में इस दिशा में बढ़ना सम्भव नहीं हो पा रहा है। सरकार की ओर से कानून सम्मत सहकारी समितियों के माध्यम से भी सहकारिता को बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। लेकिन इस दिशा में भी अपेक्षित सफलता नहीं मिल पा रही है। हमारा मानना है कि इस प्रयास में परम्परागत सहकारिता की भावना, उसकी परम्परा एवं अनुभव का उपयोग नहीं किया जा सका है। इसी कारण कानूनी सहकारिता की जड़ें मजबूत नहीं हो सकीं और वह सरकारी कार्य का एक अंग मात्र बन गया। उसकी आत्मा—सहकारी भावना का विकास नहीं हो सकी।

सहकारिता जी भावना विकसित करने में सतत शिक्षण आवश्यक है। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि समाज में जो भी परम्परायें, विश्वास बनते हैं वह सैंकड़ों वर्षों के अभ्यास, उसके सतत पालना से बनते हैं। यही कारण है कि उनकी सामाजिक स्वीकृति सामाजिक दवाव इतना अधिक होता है कि उसकी अवहेलना, उसकी पालना नहीं करना कठिन होता है। प्रायः सभी उस पर चलते हैं। हमने कानून बनाते समय, उसे लागू करते समय इन परम्पराओं पर विचार नहीं किया, उसका लाभ नहीं लिया। हमने उसे शुद्ध कानूनी एवं आर्थिक कार्यक्रम मान लिया। इसलिए परम्परागत सहकारिता को ध्यान में रखकर कानूनी सहकारिता के बारे में सतत शिक्षण, प्रशिक्षण चलाने की आवश्यकता भी पूरी नहीं हो सकीं। सिद्धान्तः तो यह मान्य किया गया कि शिक्षण, जन-भागीदारी स्थानीय नेतृत्व के आधार पर सहकारी समितियाँ आगे बढ़े लेकिन व्यवहार में वह कभी नहीं हो पाया। प्रशिक्षण एवं भागीदारी धीरे-धीरे घटती ही गई। इस परिपेक्ष में परम्परागत सहकारिता के अनुभवों को ध्यान में रखकर सहकारिता आन्दोलन को गति प्रदान करने की आवश्यकता है। हमें ग्राम जनता के मानस में यह विश्वास जमाना चाहिए कि—

(क) सहकारिता एवं सहकारी जीवन भारतीय समाज का अभिन्न अंग है।

(ख) हमारे जीवन—सामाजिक एवं आर्थिक—में सहकारिता की व्यवस्था प्राचीनकाल से चली आ रही है।

(ग) आर्थिक कार्यों में सहकार आवश्यक है क्योंकि एकाकी या व्यक्तिगत स्तर पर आर्थिक कार्यों को पूरा करना कठिन है। उत्पादन पद्धति, तकनीक, बाजार आदि की बदलती परिस्थिति में पूंजी, संगठन, व्यवस्था आदि में पहले से अधिक शक्ति की आवश्यकता पड़ती है।

(घ) सतत अभ्यास से सहकार की भावना मजबूत होगी और कानूनी सहकारिता भी परम्परा बन सकती है। फिर वह स्वाभाविक रूप से चलती रहेगी।

(च) इस बात का प्रयास किया जाय कि जन-भागीदारी बढ़े और स्थानीय नेतृत्व सहकारिता को स्वाभाविक रूप से स्वीकार करे।

सहकारिता आन्दोलन को नई दिशा देने की दृष्टि से निम्नलिखित सुझाव दिये जा रहे हैं—

1. 1. सहकारिता के सैद्धांतिक और व्यवहारिक ज्ञान के शिक्षण का कार्य व्यापक स्तर पर सतत चलाया जाय। इसमें सहकारी समिति के सदस्य, पदाधिकारी, जन-प्रतिनिधि एवं सामान्य नागरिक को भी शामिल किया जाय।

1. 2. परम्परागत सहकारिता के बारे में विस्तार से जानकारी दी जाय। सामान्य जन के समझने लायक पाठ्यक्रम तैयार किया जाय, जिसमें परम्पगत सहकारिता का इतिहास, वर्तमान स्थिति, परिवर्तन के कारण तथा इससे मिलने वाली सीख की जानकारी दी जाय।

1. 3. इस बात पर विचार किया जाय कि परम्परागत सहकार के किन-किन पक्षों का लाभ कानूनी सहकारिता में लिया जा सकता है तथा इसका समन्वय कैसे बिठाया जा सकता है।

2. 1. जन-मानस में सहकारिता के प्रति रुचि जागृत करने तथा उन्हें गतिशील करने के लिये परम्परागत सहकारिता के उदाहरण, प्रयोग और प्रभाव के बारे में जानकारी दी जाय। यह कार्य व्यापक लोक-शिक्षण द्वारा किया जा सकता है। इस कार्य में भारतीय प्राचीन साहित्य, लोककला, गीत, कहानियों का उपयोग किया जाय। इस कार्य में समाज सुधारक, साधु-संत, लोक कलाकारों की मदद उपयोगी रहेगी।

2. 2. इसके लिए सरल, हृदयस्पर्शी साहित्य की रचना की जानी चाहिए। इस प्रकार के साहित्य का उपयोग प्रौढ़ शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा तथा साहित्य प्रचार के अन्य माध्यमों में किया जाना चाहिये।

3. कानूनी सहकारिता को अधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से उसे स्वशासित बोर्ड या कार्पोरेशन के माध्यम से चलाया जाय। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाय कि सहकारिता आन्दोलन में राजनैतिक एवं दलीय हस्तक्षेप नहीं रहे तथा नौकरशाही की भूमिका क्रमशः कम होती जाय।

4. अध्ययन दल

कानूनी सहकारिता के प्रारम्भ से लेकर अब तक की स्थिति, उनकी असफलतायें, बाधाएं (Constraints) एवं जन-भागीदारी की कमी को देखते हुए इस आन्दोलन पर आमूल विचार किया जाय। ग्रामस्तर से लेकर केन्द्र

तक के सहकारी संगठनों का पुनर्गठन किया जाय। जैसा कि हमने देखा कि अधिकांश सहकारी समितियां निष्क्रिय हैं। औद्योगिक सहकारी समितियां तो प्रायः बन्द पड़ी हैं। इस समय जो सहकारी संस्थाएं चल भी रही हैं वे मात्र वित्तीय एजेंसी के रूप में या उपयोग की वस्तुओं की आपूर्ति के रूप में ही कार्य कर रही हैं। इस परिपेक्ष को देखते हुये भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि सहकारी आन्दोलन पर, भारतीय समाज की प्रकृति तथा उसकी रचना को ध्यान में रखकप पुर्नविचार किया जाय। अध्ययन दल भारतीय समाज की संरचना, उसकी प्रकृति तथा बदलती परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सहकारी आन्दोलन एवं सहकारिता कानून के सभी पक्षों का अध्ययन करे। अध्ययन दल उन बातों पर भी विचार करे जिसके कारण सहकारी समितियों, संघों पर प्रशासन (सरकारी अधिकारी/कर्मचारी) एवं राजनैतिक हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। इस मुद्दे के साथ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से जुड़ा हुआ है कि सहकारी आन्दोलन प्रशासन एवं राजनीति से कैसे मुक्त हो और उसमें जन-भागीदारी कैसे आये तथा वह सहकारी जीवन की ओर कैसे बढ़े ? यह अध्ययन दल इस बात पर भी गम्भीरता से विचार करे कि परम्परा से चले आ रहे आपसी सहयोग एवं सहकार की व्यवस्था का लाभ कानूनी सहकारिता में किस रूप में लिया जाय जिससे परम्परागत सहकारिता पर कानूनी सहकारिता की कलम चढ़ा कर सहकारिता आन्दोलन को इस देश की जनता की प्रकृति और यहां के वातावरण के अनुकूल बनाकर इसे बढ़ाया और सफल किया जा सके।

परिशिष्ट

परम्परागत सहकारिता : कुछ प्रतिक्रियाएं एवं अनुभव

अध्ययन के दौरान कुछ लोगों से परम्परागत सहकारिता के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई। उनसे यह जानने का प्रयास किया गया कि जीवन में जितने भी प्रकार के सहकार के अवसर आते हैं उनके बारे में अपना अनुभव बतायें। बालकाल से लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति को अनेकों लोगों से सहकार की आवश्यकता होती है। माता-पिता, परिवार, कुटुम्ब, पड़ौसी, गांव, शिक्षक आदि अनगिनत व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों से वह सहयोग लेता है। दूसरे शब्दों में कहें तो बिना दूसरे के सहयोग से हम समाज में नहीं रह सकते हैं। यह सहयोग सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सभी प्रकार का होता है। यह देखना उपयोगी होगा कि पिछले पचास वर्षों में 'जीवन में सहयोग' के स्वरूप, उसके प्रकार एवं स्तर में क्या परिवर्तन आया है। इसी दृष्टि से 70 वर्ष से अधिक उम्र के कुछ व्यक्तियों से इस विषय पर विस्तार से चर्चा की गई है। उन्होंने अपने-अपने ढंग से इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं जिसे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं।

इस साक्षात्कार में शामिल व्यक्ति दो प्रकार के हैं :—

1. ऐसे लोग जो बचपन से आज तक गांव में ही हैं और परम्परागत सहकारिता की बदलती परिस्थिति के प्रत्यक्षदर्शी हैं।
2. कुछ लोग ऐसे हैं जिनका बाल्यकाल एवं किशोर अवस्था गांव में बीता लेकिन बाद में स्थाई रूप से गांव में नहीं रहे हालांकि गांव से, गांव के विकास एवं वहां होने वाले परिवर्तन से निकट का सम्पर्क आज भी कायम है।

I. 'आज से 50–60 वर्ष पूर्व के गांव में आज की तुलना में अधिक पारिवारिक बना थी। गांव एक कुटुम्ब था। आज भी कुटुम्ब मान सकते हैं लेकिन अब वह कुटुम्ब बिखर गया है, इसमें आपसी स्वार्थ, गुटबन्दी बढ़ गई

है। जब मैं आज से पचास-साठ वर्ष के पूर्व की गांव के बारे में सोचता हूं तो पाता हूं कि उस समय सुविधाएं सीमित थीं लेकिन गिरी हुई आर्थिक स्थिति के बावजूद आपस में सहकार था। गांव में जितने परिवार थे, आपस में आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों में सहयोग करते थे। जातिगत भेदभाव उस समय भी था, छुआछूत भी थी लेकिन दिलों में अलगाव नहीं था, ईर्ष्या भी कम थी। ब्राह्मण-बनिये उच्च माने जाते थे लेकिन खाती, नाई, कुम्हार, मोची भी सम्मान का जीवन जीते थे। हमें याद है गांव के बुजुर्ग खाती, नाई, यहां तक कि सफाई करने वाले मेहतर को भी दादा, दादी, चाचा, चाची, भाभी के नाम से संबोधित करते थे लेकिन इससे आप यह न समझें कि उस समय शोषण नहीं था। कुछ लोग अन्याय भी करते थे, शोषण भी था। सामंती मानस के लोग भी थे। लेकिन इसके बावजूद 'सहकार' की ठोस परम्परा थी। आर्थिक जीवन की एक ऐसी पद्धति प्रचलित थी जिसमें सभी आर्थिक कार्यों में लगे लोग एक-दूसरे के पूरक थे और उनका आर्थिक जीवन आपसी सहकार से चलता था। एक उदाहरण लें, उस समय पेशेवर लोगों यथा—खाती, लुहार, कुम्हार, मोची आदि को उत्पादन में हिस्सा मिलता था और विशिष्ट कार्य के लिए मजदूरी भी मिलती थी। यदि किसी वर्ष फसल खराब हो गई, अकाल पड़ा तो उसका असर सबके ऊपर पड़ता था, सभी दुःखी होते थे। जितनी पैदावार होती थी उसी के अनुसार हिस्सा या मजदूरी लेते थे। दुःख में सभी साथ थे। परन्तु आज यह स्थिति नहीं है। अब तो काम के बदले पैसा या अनाज मिलना ही चाहिये—चाहे फसल हो या न हो। दूसरी ओर किसान भी पेशेवर सेवा करने वाले से पहले जैसा सम्बन्ध नहीं रखता। सारा वातावरण ही बदल गया है।'

II. मेरा गांव छोटा है। आज से पचास-साठ वर्ष पूर्व तो कोई 70-80 परिवार रहते थे। विविध जातियों के इस गांव में कोई भी काम होता, वह छिपता नहीं। साल में 3-4 शादियां देखने का अवसर मिलता था। पूरा गांव इसमें शामिल होता था। उन दिनों चर्चा का विषय ही 'शादी' होती थी। सामान्यतः गर्मी के महीनों में शादियां होती थीं जबकि खेती में काम नहीं होता। बच्चों को ज्यादा उत्साह रहता था, ज्यादा मजा आता था। शादियां आमतौर पर पास-पड़ौस के गांवों में होती थीं। ऐसी स्थिति में बारात में गांव के काफी लोग जाते थे। कई बार तो गांव में कुछ लोगों को देखभाल के लिए रोकना पड़ता था। यह भी याद है कि शादियों में जाने पर गांव में बच्चे-बच्चियों, महिलाओं, वृद्धों आदि की देखभाल शादी में न जाने वाले व्यक्ति करते थे। उन दिनों बारात लड़की वाले के लिए बोझ नहीं था। सभी गांव वाले आपस में मिलकर एक-दूसरे की मदद करते थे। उदाहरण के लिए—बैलगाड़ी, ऊंटगाड़ी, बिछावन-दरी, चादर, बरतन आदि निःशुल्क उपलब्ध कराना और

सामान ढोना, रखवाली, भोजन बनाना-परोसना आदि सभी कार्य आपस में मिलकर कर लेते थे। शादी वास्तव में गांव में एक ऐसी खुशी का त्यौहार होता था जिसमें सभी समान रूप से खुश होते थे और केवल सम्बन्धित घर-वालों पर ही उसका बोझ नहीं पड़ता था। यही स्थिति लड़की की शादी की भी थी। लेन-देन एवं ऊपरी दिखावा कम था, अतः लड़की वाले पर अधिक भार नहीं पड़ता था। दहेज का प्रचलन बहुसंख्यक जातियों में प्रायः नहीं था। कुछ खास लोगों यथा—राजपूतों, जागीरदारों आदि में इसका कुछ प्रचलन उन दिनों भी था। सामान्य व्यक्ति इस बुराई से मुक्त था। लेकिन अब जमाना बहुत बदल गया है। छोटा गांव होने के कारण शादी-व्याह की जानकारी तो सबको रहती है लेकिन अब उसमें सबकी भागीदारी नहीं होती। अब तो सबको अपनी-अपनी टापनी पड़ती है। बारात ले जाने-लाने का भी वह रूप नहीं रहा। न तो कोई ले जाना चाहता है और न कोई काम छोड़कर पहले की तरह मामूली से निमन्त्रण पर जाना चाहता है। अब लोगों को फुरसत कहां है? सामाजिक कार्यों में सहकार बहुत कम हो गया है, पहले का दसवां हिस्सा भी नहीं है।

III. 'परम्परागत सहकारिता के अच्छे एवं बुरे दोनों पक्ष हो सकते हैं। जिसे हम परम्परागत सहकार कहते हैं, उसमें परम्परागत शोषण के तत्व भी देखे जा सकते हैं। साम्यवाद-समाजवाद के चश्में से देखने पर तो हमें परम्परागत सहकारिता में शोषण ही मिलेगा और कुछ सीमातक ऐसा था। लेकिन ऐसा शोषण तो आज की सहकारी व्यवस्था में भी है। यह तो सभी मानते हैं कि परम्परागत सहकारी व्यवस्था स्वतः विकसित हुई थी। उसमें बनावटीपन नहीं है। अतः उसमें भोक्ता एवं भागीदार को शोषण का भान नहीं होता। उदाहरण के लिए परम्परागत व्यवस्था में हरिजन शोषित माना जा सकता है लेकिन उसे इसका भान नहीं था। वह समाज से इस रूप में जुड़ा था कि उसका जीवन स्वाभाविक ढंग से चलता रहता था। सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों ने जाति भेद को बढ़ाया है, इस कारण ऐसी व्यवस्था बन गई है जिसमें समाज का एक वर्ग शोषित हो गया। स्थिति यह बनी कि जिनके पास जमीन है वे तो सम्पन्न रहे लेकिन शेष लोग दिन-प्रति-दिन गरीब होते गये। पेशेवर सेवा करने वाले एवं श्रमिक-वर्ग किसानों पर निर्भर होते गये। फिर भी, जहां तक मुझे याद है आज से 50–60 वर्ष पूर्व और बाद में भी, परम्परागत व्यवस्था ऐसी थी कि जीवन के हर मोड़ पर आपसी सहकार था। आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी आपसी सहकार से हो जाती थी। हां, उन दिनों आर्थिक आवश्यकताएं सीमित थीं। वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, यात्रा आदि पर खर्च बहुत कम थे। उस समय जितनी आवश्यकताएं, आकांक्षाएं थीं उनकी

पूर्ति में खास कठिनाई नहीं होती थी। साथ में, आपसी सहयोग के आधार पर जीने की चाह रहती थी। जीवन कष्टकारक तो था ही, क्योंकि साधन-सुविधाएं आज के समान उपलब्ध नहीं थीं। अपने अनुभव के आधार पर मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि परिश्रमशील जीवन में सहकार आसान होता है, लेकिन आज परिश्रमशील जीवन के स्थान पर दूसरों के श्रम पर जिन्दा रहने की परंपरा व्यक्ति स्वयं की चालाकी से विकसित हुई है, उसमें से वह आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त कर लेता है। उन दिनों न तो ऐसी सुविधा थी और न ही ऐसी आकांक्षा थी। ऐसा लगता है कि सुविधा एवं आकांक्षा की बढ़ोतरी ने आपसी सहकार कम किया है।'

व्यक्ति के जीवन में उसके विकास की प्रक्रिया में किन-किन का सहयोग रहता था—इस पर विचार करना उपयुक्त होगा। समाजशास्त्र की भाषा में इसे सामाजीकरण की प्रक्रिया कहते हैं। परम्परागत समाज व्यवस्था में सामाजीकरण की प्रक्रिया में किसका कितना योगदान रहता था, इस पर राय जानने का प्रयास किया गया। यह बात सामने आई कि ग्रामीण जीवन में एक खास वातावरण एवं परिवेश रहता है और उसी में गांव में बसने वाले व्यक्ति का निर्माण होता है। इस वातावरण में परिवार, कुटुम्ब एवं गांव के व्यापक हितों को महत्व दिया जाता है।

IV. अपनी बात अधिक स्पष्ट करते हुए एक ने बताया, 'ग्रामीण वातावरण में व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक विकास में और उसके पूरे व्यक्तित्व के विकास में सहयोग देने वालों की लंबी सूची है। मित्रों का साथ जीवन को नया मोड़ देता है। ग्रामीण जीवन का बाल्यकाल इतना प्रभावशाली होता है कि वह कभी भूलता नहीं। पशु चराने, खेत में साथ-साथ कार्य करने, खेलने-कूदने और सामाजिक-धार्मिक समारोहों में शामिल होने के अवसर व्यक्ति को समाज के साथ जोड़ने में मददगार होते थे। ये व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी भी बनाते थे। आज परिस्थितियां बदल गई हैं लेकिन चालीस-पचास वर्ष पूर्व तक पीढ़ियों से चली आ रही परम्परागत व्यवस्था इतनी मजबूत थी कि व्यक्ति का विकास सहज में होता था। उसके पालन-पोषण, शिक्षा के लिए किसी 'पब्लिक स्कूल' की खोज नहीं करनी पड़ती थी। उस समय की परिस्थितियों के लायक व्यक्तित्व का विकास सहज में हो जाता था। उन दिनों जिनका सहयोग रहता था, उनमें मुख्य थे—माता-पिता, परिवार के लोग, कुटुम्ब, मित्र मण्डली, गांव के बुजुर्ग, शिक्षक आदि। आज भी कमोवेश इनका सहयोग रहता है। लेकिन उस जमाने में सदियों से चली आ रही पुरान परंपराओं को तोड़ना बहुत सहज नहीं था। प्राय: ऐसा होना असंभव-सा ही

था। व्यक्ति उन परम्पराओं की सीमा में चलता था और उसका मानस उससे अलग सोचने एवं चलने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। यह भी कह सकते हैं कि उस समय समाज में स्वच्छंदता का वातावरण नहीं था। नियंत्रित सामाजिक परिवेश था।'

V. ग्रामीण जीवन की परम्परागत व्यवस्था में जातीयता एवं जातिभेद की जड़ें काफी गहरी रहती हैं। इसी कारण तत्कालीन सामाजिक सम्बन्ध के ताने-वाने में समाज का एक वर्ग सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से शोपित रहा है और दूसरा वर्ग शोषक। लेकिन पीढ़ियों से चली आ रही परम्परा के कारण शोपित को शोषण की अनुभूति नहीं हो पाती थी और व्यवहार में असमानता को नियति मान ली जाती थी। हां, एक वात जरूर है कि आज से 40–50 वर्ष पहले आर्थिक अन्तर भी आज जितना नहीं था। कुछ व्यक्तियों (सामंत या जागीरदार) को छोड़कर शेष समुदाय प्राय: समान जीवन जीता था। इस परिस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया—'गांव में, जिनके पास जमीन थी, वे प्रभावशाली थे और तुलनात्मक दृष्टि से सम्पन्न थे। ऐसे लोगों में राजपूत, वनिये, व्राह्मण, जाट, गूजर आदि कृषक जातियां थीं। दूसरी ओर अस्पृश्य एवं सेवा कार्य में लगी पेशेवर जातियां थीं जिनके पास जमीन का आधार नहीं था और जिनकी जीविका का आधार उनके पुश्तैनी धन्धे थे। ये लोग तुलनात्मक दृष्टि से गरीव थे लेकिन सामाजिक ढांचा, आर्थिक सम्बन्ध एवं लेन-देन की व्यवस्थायें इस ढंग की थीं कि उस समय सवकी मूलभूत आवश्यकताएं पूरी हो जाती थीं। व्यवहार में निकटता थी। सामाजिक सम्वन्धों में सद्-व्यवहार था। हां, सभी क्षेत्रों में एक-सी स्थिति नहीं थी, कई स्थानों पर सामाजिक तनाव भी थे लेकिन ये तनाव धार्मिक अधिक थे। सामंती शोषण तो था, लेकिन फिर भी उत्पादन एवं सामाजिक कार्यों को पूरा करने में आपसी सहकार खूव था। कृषक जातियां कृषि कार्य आपसी सहकार से कार्य करती थीं। पेशेवर जातियां एवं कृषकों में भी भरपूर सहकार था। आप देखेंगे कि सामाजिक भेदभाव के वावजूद आर्थिक कार्यों में एक-दूसरे का पूरा सहयोग मिलता था। इतना ही कहा जा सकता है कि सामाजिक भेदभाव को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी लेकिन यह भेदभाव आर्थिक एवं सामाजिक कार्यों के सहकार में किसी प्रकार वाधा नहीं पहुंचती थी। मेरी राय में शोषण तथा सहकार दोनों साथ-साथ चलता था। फिर भी जीवन और रहन-सहन के स्तर में वहुत विषमता नहीं प्रगट होती थी। शायद परम्परागत व्यवस्था की यही विशेषता थी।'

यह वात सभी ने स्वीकार की कि परम्परागत सहकार की व्यवस्था टूट रही है। हां, सुदूर गांवों में एक सीमा तक अभी इसका अस्तित्व है। इस

व्यवस्था के टूटने के कारणों में शोषण के प्रति जागरूकता भी एक कारण है। आजादी के वाद समाजवाद, लोकतन्त्र, समान अधिकार, स्वतन्त्रता आदि शब्दों के प्रचलन के कारण जागरूकता वढ़ी है। जमींदारी एवं राजशाही की समाप्ति ने भी इसमें योगदान दिया है। समाज का कमजोर वर्ग यह सोचने लगा है कि परम्परागत व्यवस्था में हमारा शोषण हुआ है।

VI. परम्परागत सहकार की व्यवस्था के टूटने की प्रक्रिया कम होती नजर नहीं आती। नित्य नई वातें गांव में आ रहीं हैं। उदाहरण के लिए विजली एवं डीजल संचालित साधनों का ही प्रभाव देखें। इसने आर्थिक क्षेत्र में परम्परागत सहकार कम किया है। कुंआ वनाने एवं सिंचाई करने आदि में जिस ढंग का सहकार था, वह अव विजली एवं डीजल पम्पों के कारण समाप्त हो गया। अव हर व्यक्ति कर्जा लेकर स्वयं सिंचाई का साधन खड़ा करना चाहता है तथा अपने साधन से स्वयं ही आर्थिक लाभ लेना चाहता है। इसी प्रकार ट्रैक्टर, थ्रेसर भी खेती के मुख्य साधन वन गये हैं और इनके कारण नकद लेन-देन की वृत्ति वढ़ी है और पैसा देकर काम कराने की वृत्ति पनपी है। एक अन्य उदाहरण लें—'एक व्यक्ति ने पावर टिलर खरीदा है। उससे स्वयं जुताई का काम कर लेता है। पहले उसके पास 2–3 मजदूर परिवार स्थाई रूप से काम करते थे और उन परिवारों को पेट भरने लायक आय हो जाती थी। लेकिन जव से पावर टिलर खरीदा, सभी वैल वेच दिये और दोनों मजदूरों को कार्य मुक्त कर दिया। इसके कई लाभ भी हुए—(1) वैलों की रखवाली का झंझट मिटा। इस कार्य के लिए नौकर रखने पर होने वाला खर्च वचा। चारे की वचत हुई जिसे अव वह वेच देता है, (2) दो मजदूर परिवारों को कार्य मुक्त करने पर मजदूरी की वचत हुई। जुताई खर्चा वचा, (3) उसके ख्याल में मजदूरी एवं पशु के रख-रखाव पर जो खर्च होता, उसकी तुलना में अव पावर टिलर आने पर उसका खर्चा आधा हो गया है। साथ ही रोज की परेशानी भी कम हुई। मोटा अनुमान है कि इससे प्रति वर्ष करीव 2500–3000 रु. की वचत हुई। अव वह जव जरूरत होती है किसी को भी दैनिक मजदूरी पर रख लेता है। कोई वन्धन नहीं, मालिक और मजदूर दोनों स्वतन्त्र। इसके साथ ही खाती, लुहार आदि की जरूरत भी खतम हो गई है। सभी कार्य वाजार में नकद पैसा देकर करा लेता है। कृषि में आर्थिक सहकारिता की सभी पुरानी व्यवस्था समाप्त हो गई। परम्परागत व्यवस्था में मानवीय आर्थिक सम्वन्ध थे। अव केवल भौतिक सम्वन्ध रह गया है। एक किसान को केन्द्रविन्दु मानकर चलें तो परम्परागत व्यवस्था में दो जोड़ी वैल रखने वाले किसान के साथ जुड़ने वाले खाती, लुहार, कुम्हार एवं मजदूरों के अनेक परिवार जुड़े रहते थे। इसके अतिरिक्त व्राह्मण, नाई, चमार, धोवी आदि का भी कुछ-न-कुछ सम्वन्ध रहता था।

इन परिवारों को उत्पादन में अंश एवं मजदूरी आदि मिलती थीं। कई स्थानों पर मजदूरी के रूप में अनाज तथा भोजन की परम्परा थी। इस परिवर्तन का प्रभाव पेशेवर जाति वर्गों एवं मजदूरों पर भी पड़ा है। अब उन्हें हर चीज खरीदनी पड़ती है। पहले जरूरत की चीजें किसान से मिल जाती थी। नकद व्यय की जरूरत कम रहती थी। अब पेशेवर सेवक वर्ग एवं मजदूर भी नकद लेना पसंद करते हैं ताकि मनचाही चीजें खरीद सकें। अतः मेरी राय में परम्परागत सहकारिता की गाड़ी जिस पटरी पर चल चुकी है उसे बदलना संभव नहीं है।'

संदर्भ सामग्री

G. P. Srivastava; Traditional forms of Cooperation; I. C. U. New Delhi 1962.

H. Calvert; The Law and principles of Cooperation; Thacker spink and Co., Calcutta; 1959.

The Cooperative Way–A Hand book; AICC, New Delhi 1956.

E. M. Hough; The cooperative movement in India, Oxford University Press. London, 1959.

Report of the committee on cooperative Law, Ghvt. of India 1975.

James P. Warbasse; The Cooperative way, New York 1946.

J. J. Worley; A Social Philosphy of cooperation; London 1945.

Report of the cooperative. Planning committee of India; 1951.

Rural progress through cooperatives; United Nations, Department of Econumic affairs; 1954.

The Developmat of Cooperative movement in Asia; 1949.

Rajkrishna; Cooperativ Farming; 1956.

Cooperative Law in India–A disquestion, Indian Cooperativ Union, New Delhi 1964.

T. N. Hajela; Principles, problems and practice of cooperation; 1973.

G. Marwell and D. R. Schmith; Cooperation; an experimental analysis; 1975.

O. R. Krishnawati; Fundamentals of Cooperation; 1978.

P. Y. Chinchapkan; Cooperation and dynamics of change; 1977.

B. S. Mathur; Cooperation in India; A oritical analysis of Cooperative movement in India; 1971.

Otto Schilber, "Cooperative farming and Individual Farming on cooperative lines". All India Cooperative Union; New Delhi, 1957.

K. M. Choudhary and others; An assessment of cooperative farming in Gujerat and Rajasthan; AERC; Vallabh Vidya Nagar; 1972.

Kailash Chand Jain; Ancient Cities and towns of Rajasthan– A study of culture and civilization; Motilal Banarasidas; Varanasi; 1962.

M. H. Hari and M. T. Farvar; Traditional Rural Institutions and their implications for development. United Nations University, 1980.

H. D. Malviya; Village Panchayats in India; A. I. C. C.; New Delhi.

S. B. Rao; Performance of Cooperation, **The Economic Times**; 30 May 1983, New Delhi.

मदनलाल अतार; वहादुरपुर का इतिहास, ग्राम पंचायत वहादुरपुर (अलवर) 1979,

एम. एल. गंगवाल; राजस्थान सहकारी संस्था कोड़; राज पंचायत प्रकाशन, जयपुर, 1983.

डा. महावीर प्रसाद शर्मा; तोरावाटी का इतिहास; प्रकाशन समिति, कोटपूतली, जयपुर, 1981.

श्री अरविन्द; गीता प्रवन्ध, अरविन्द सोसाइटी; पांडीचेरी, 1969.

गांधी; सहकारी खेती, उपरोक्त, 1959.

निरंजनसिंह; सहकारी विभाग का पुनर्गठन जरूरी; राजस्थान पत्रिका; 14 नवम्वर, जयपुर, 1983.

डॉ० अवधप्रसाद (1944) एम०ए०,पी०एच–डी० (अर्थशास्त्र)। प्राथमिक एवं उच्च शिक्षा वाराणसी में प्राप्त की। ग्रामीण समाज की समस्याओं तथा विकास की प्रक्रिया को समझने तथा उसके अध्ययन अनुसंधान में विशेष रुचि। काशी विद्यापीठ के अर्थशास्त्र विभाग में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के फैलोशिप से ग्रामीण हिंसा का अध्ययन। **"लोक अदालत संगठन और प्रक्रिया," "ग्रामीण हिंसा," "गांधीजी और औद्योगीकरण" "गांधीजी और रचनात्मक कार्य"** आदि पुस्तकों के लेखक।

भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (आई.सी.एस.एस.आर) के सहयोग से अनेक अध्ययन परियोजनायें पूरी की है। कुमारप्पा ग्राम स्वराज्य संस्थान के अन्तर्गत यूनिसेफ, भारत सरकार तथा राज्य सरकार के सहयोग से क्षेत्रीय आयोजन, सामाजिक संसाधन, हस्तकलाओं एवं दस्तकारों की समस्याओं से संबन्धित अनेक परियोजनायें पूरी की हैं। गांधी विचार, ग्रामीण विकास तथा समस्याओं पर दो दर्जन से अधिक शोध प्रलेख प्रकाशित।

मूल्य : 40.00 रुपये